खण्ड 2
धर्म के तत्व

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 5 पवित्रता, मिथक और अनुष्ठानः धर्म का सामाजिक महत्वं

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 पवित्रता की धारणा

5.3 मिथक और अनुष्ठान

5.4 समाज में धर्म की महत्व

5.4.1 कुर्ग धर्म का उदाहरण

5.5 सारांश

5.6 संदर्भ

5.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- पवितत्रता, मिथक और अनुष्ठान की धारणा को समझा सकेंगे;
- मिथक और अनुष्ठान के सामाजिक महत्व पर चर्चा कर सकेंगे;
- समाज में धर्म के महत्व पर चर्चा कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

बहुधा, धर्म हमारे रोजाना के जीवन से जुड़ी समझ को प्रभावित करता है। हम एक दूसरे से कैसे जुड़े हैं- इस पर प्रायः धार्मिक विश्वासों का प्रभाव पड़ता है धर्म का संबंध राजनीति, आर्थिक क्रियाकलापों जैसे उत्पादन, वितरण और उपभोग से भी है। धर्म मनुष्यों को जहाँ एक जुट करता है वहीं इनमें द्वेष भी पैदा करता है। अलग-अलग जगहों पर धर्म का प्रभाव भी अलग-अलग होता है। विश्व में एक छोर पर धर्म, संसाधन के असमान वितरण और उत्पीड़न का पक्षधर है तो दूसरी तरफ था दमन के विरूद्ध संघर्ष और इसकी रोकथाम के उपाय बताता है ।

5.2 पवित्रता की धारणा

दुर्खाइम के अनुसार धार्मिक विश्वास पवित्र और लौकिक इस विभाजन के वर्गीकरण पर आधारित है। पवित्र और लौकिक क्षेत्र एक दूसरे के विपरीत हैं और इस आपसी भेद का धार्मिक अनुष्ठानों और कर्मकांडों द्वारा नियंत्रित किया जाता है। पवित्र अथवा दिव्य क्षेत्र वह है जिसे पावन मानकर उच्च स्तर दिया जाता है और जिसके प्रति सम्मान अथवा भय की भावना पैदा होती है। दिव्य क्षेत्र को लौकिक क्षेत्र से अधिक महत्व और प्रतिष्ठा दी जाती

इग्नू पाठ्यसामग्री से अंगीकृतः मिचेलकै ने डी द्वारा रचित इकाई 3 और 5 *समाज और धर्म* (ESO-15) शोभिता जैन द्वारा रचित इकाई 5, एड्डी रोड्रिक्स द्वारा रचित इकाई 6 और इकाई 27 *भारत में समाज* (ESO-12) का नीता माथुर द्वारा संशोधन।

है। उसके अस्तित्व और शक्ति को सामाजिक नियमों द्वारा सुरक्षित किया जाता है। दूसरी और लौकिक क्षेत्र के अंतर्गत आम दैनिक जीवन के सामान्य पहलू शामिल हैं। दुर्खाइम के अनुसार दिव्य और लौकिक क्षेत्रों को एक दूसरे से अलग रखना आवश्यक माना जाता है क्योंकि वे एक दूसरे से मूल रूप से भिन्न, विपरीत और विरोधी हैं।

आइए, इस बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करें। मंदिर में जूते पहनकर जाना मना क्यों है? जूते या चप्पल आम जीवन में इस्तेमाल किये जाते हैं, अतः वे लौकिक क्षेत्र में संबद्ध हैं। किन्तु मन्दिर को दिव्य, शुद्ध स्थल माना जाता है। जूतों की गंदगी से मंदिर को सुरक्षित रखना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार, दिव्य और लौकिक क्षेत्रों को अलग रखा जाता है।

बॉक्स 5.1 पवित्र तथा लौकिक

दुर्खाइम(1961 : 52) ने पवित्र तथा लौकिक के बारे में लिखा है कि सभी धार्मिर्क विश्वासों के अनुसार वस्तुए दो वर्गों अथवा दो विरोधी समूहों में विभाजित हैं। सामान्यता इन दोनों को अलग अलग शब्दों में व्यक्त किया जाता है.... पवित्र और लौकिककृकृ पवित्र वस्तुओं का अर्थ केवल देवी-देवता या प्रेतात्मा से ही नहीं लगाया जाना चाहिए। कोई शिला, वृक्ष, झरना, कंकड़, लकड़ी का टुकड़ा, घर या एक ही शब्द में कहें तो कुछ भी वस्तु पवित्र हो सकती है..... पवित्र वस्तुओं की परिधि पूर्णतया निर्धारित करना संभव नहीं है। इसकी सीमा अलग अलग धर्मों के अनुसार अलग अलग होती है। बौद्ध धर्म को भी धर्म कहा गया है जिसमें देवताओं को न मानते हुए भी पवित्र वस्तुओं- चार सत्यों तथा उनपर आधारित अच्छे कर्मों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है।.....

अब हमें यह बताना होगा कि किन सामान्य विशेषताओं के कारण वे (पवित्र वस्तुएँ) लौकिक वस्तुओं से भिन्न होती हैं.....।

वस्तुओं के पदक्रम में पवित्र वस्तुओं का जो स्थान निर्धारित होता है उसी के अनुसार उन्हें परिभाषित किया जाता है। स्वाभाविक रूप से वे लौकिक वस्तुओं की तुलना में शक्ति और गरिमा की दृष्टि से ऊंची मानी जाती है.....।

इन दोनों वर्गों में बाहरी तौर पर भी विरोध साफ झलकता है, जिससे यह विभाजन आसानी से देखा जा सकता है।

दुर्खाइम के अनुसार धार्मिक विश्वास और अनुष्ठानों का एकीकरण धर्म का स्वरूप लेता है। विश्वास से उसका तात्पर्य है विभिन्न नियम, नैतिक विचार, शिक्षा और मिथक। ये सब वे सामूहिक प्रतिनिधान हैं जो व्यक्ति के बाहर होते हुए भी धार्मिक व्यवस्था से एकीकृत करते हैं विश्वासों के माध्यम से व्यक्ति दिव्य क्षेत्र और उसके साथ अपना संबंध समझ सकते हैं, जिसके अनुरूप वह अपना जीवन बिता सकता है।

ईवन्स प्रिचर्ड (1981) ने धर्म दुर्खाइम पर कहा कि आवश्यक नहीं कि हर समाज में पवित्र-लौकिक में सामाजिक कार्यकलापो के क्षेत्र का बंटवारा होता हो। दूसरे, पवित्र और लौकिक सदैव एक दूसरे के विरोधी हैं- यह भी जरूरी नहीं है।

बॉक्स 5.2 पवित्रता और लौकिकता विभाजन पर इवेन्स प्रिचर्ड के विचार

पवित्रता और लौकिकता पर विचार करते हुए प्रिचर्ड ने बताया है कि एजांडे के लिए ऐसा कोई निश्चित और सुस्पष्ट विभाजन नहीं है। पवित्रता और लौकिकता की व्याख्या और विभाजन बहुत ही सुनिश्चित नहीं होता। एक ही गतिविधि कभी, पवित्र मानी जा सकती है और कभी लौकिक। इसलिए चमत्कारिक अनुष्ठानों को व्याख्यायित करने के लिए एजांडे के लोग "आत्मा" शब्द का प्रयोग करते हैं और इसे पवित्रता की कोटि में रखते हैं। पर इसी प्रकार से जमीन से बीज के अंकुरण और पौधा बनने की प्रक्रिया के लिए भी यही शब्द उपयोग में लाते हैं। इवेन्स प्रिचर्ड का मानना है कि वस्तुतः एजांडे के अनुष्ठानों और विश्वासों पर गौर करने पर यह स्पष्ट पता चलता है कि इन जनजातियों के दैनिक जीवन के प्राकृतिक और अतिप्राकृतिक, पवित्र और लौकिक, अनुष्ठानिक कृत्य और गैर-अनुष्ठानिक कृत्य एक दूसरे में घुले मिले हुए हैं।

दुर्खाइम के धर्म संबंधी विचारों की समालोचना करते हुए उनके समकालीन विद्वानों के विचारों का भी सरसरी तौर पर उल्लेख करना आवश्यक होगा। समकालीन होने से कहीं अधिक ये विद्वान उनके सहयोगी और छात्र थे तथा वे *द ऐनी सोशियोलॉजीक* विचारधारा के लेखक थे। दुर्खाइम *ऐनी सोशियोलॉजीक* पत्रिका का संस्थापक तथा संपादक थे। जो लोग इस पत्रिका के लिए लिखते थे, वे ऐनीज सोशियोलॉजीक विचारधारा के समर्थक माने जाते थे।

इस विचारधारा से जुड़े हुए विद्वानों में से एक जाना-माना लेखक था- मार्सेल मॉस (1906), जिन्होंने एस्कीमों लोगों के बारे में लिखा। अपने इस अध्ययन में उसने गर्मी और सर्दी के मौसम में एस्कीमो लोगों की जीवन पद्धतियों का वर्णन करके काल के धार्मिक तथा लौकिक आयामों को स्पष्ट किया। उन्होंने बताया कि गर्मियों में जब समुद्र की बर्फ पिघलती है तो एस्कीमों लोग छोटे-छोटे समूहों में रहते हैं तथा कई तरह के कामों में लगे रहते हैं। किन्तु सर्दियों में वे शिकार नहीं कर सकते तथा लंबे-लंबे घरों में बंद से रहते हैं। उन्हें बड़े समूहों में रहना पड़ता है तथा एक नई सामाजिक व्यवस्था में काम करना होता है। वर्ष के इस समय में वे धार्मिक समारोह सम्पन्न करते हैं। मॉस ने तर्क दिया कि जीवन की इस पद्धति से सिद्ध होता है कि धर्म सामाजिक रूप से इकट्ठे होकर रहने से उत्पन्न होता है और सर्दियों में होने वाले धार्मिक समारोहों से इस बात की पुष्टि होती है। धर्म के संबंध में दुर्खाइम ने भी यही व्याख्या की है। अतः यह कहा जा सकता है कि मॉस ने दुर्खाइम के विचारों का पूर्ण समर्थन किया। परंतु याद रखिए कि कोई एक दृष्टांत नियम नहीं बन सकता। इसलिए मॉस के अध्ययन को दुर्खाइम के सिद्धांत का केवल एक उदाहरण माना जा सकता है, लेकिन उसके प्रमाण के तौर पर इसे प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

एनीज सोशियोलॉजीक विचारधारा के एक अन्य सदस्य रॉबर्ट हर्ट्स (1960) ने भी दुर्खाइम के पवित्र और लौकिक संबंधी विचारों का उपयोग किया। उन्होंने इसकी तुलना दायें और बायें के बीच के अंतर से की। दायें और बायें के विरोध की तुलना पुरुष एवं स्त्री, सबल और दुर्बल तथा सौभाग्यशाली और दुर्भाग्यशाली के बीच के अंतर से भी की जाती है।

बोध प्रश्न 1

i) धर्म को समझने के लिए दुर्खाइम ने क्या-क्या मूलभूत तर्क दिए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) पवित्र-लौकिक के विभाजन का महत्व स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

5.3 मिथक और अनुष्ठान

मिथक को लोगों के समूह द्वारा आम तोर पर आयोजित एक कथा के रूप में समझा जा सकता है।

जनजातियों में धार्मिक मिथक, विश्वास, धार्मिक मूल्य और धार्मिक व्यवहार को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अवसरों पर प्रयोग में आने वाले विश्वासों और व्यवहार से पृथक नहीं समझा जाता। फिर भी, गैर-जनजातीय लोगों को जनजातीय लोगों के विश्वास और व्यवहार रहस्यमय प्रतीत हो सकते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि उनके धर्म की व्याख्यात्मक परिभाषाएँ नहीं दी जा सकती हैं। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि जनजातिय धर्म किसी भी तरह से उच्च कोटि के विकसित और जटित धर्मों के तुलना में कम पूर्ण नहीं है क्योंकि इसके पीछे जो दर्शन है उसमें भी उसी सार्वभौम सत्य को स्वीकार किया गया है जिसे जटिल धर्मों में समझाया जाता है।

सरस्वती (1986) उत्तर-पूर्वी भारत की जनजातियों के मिथकों के बारे में खोज और विश्लेषण के बाद इस परिणाम पर पहुँचे कि आदिवासियों की विश्व दृष्टि में मानव, ब्रह्मांड और अलौकिकता कोई अलग-अलग सत्ताएँ नहीं हैं। वे एक दूसरे से जुड़ी हैं और उनमें आपस में इस हद तक सहमति है कि मृतकों का संसार हमारी जीवित दुनिया का ही प्रतिरूप है। अपने कथन के समर्थन में सरस्वती ने ''आपातानी'' जनजाति के ''मरणोत्तर जीवन विद्या'' के संबंध में विश्वासों को उद्धृत किया। इन विश्वासों की चर्चा हॅमनडोर्फ (1953) ने अपनी पुस्तक में की है। आपातानी लोगों का विश्वास है कि जिन लोगों की अस्वाभाविक मृत्यु होती है उन लोगों की आत्माएँ (यालो) मृत्युलोक अर्थात् नेली में जाती हैं। उनके विचार में मृत्यु लोक का स्वरूप एक आपातानी गाँव जैसा होता है, जिसमें मकानों की लंबी कतारें होती हैं। जिस प्रकार कोई आपातानी पृथ्वी पर रहता है उसी तरह वह नेली में भी रहता है। अगर किसी धनी व्यक्ति ने अपने जीवन में पशुओ की बलि दी हो तो उसे नेली (मृत्यु लोक) में वे पशु मिलेंगे। प्रत्येक महिला वहाँ अपने पति के पास पहुँच जाती हैं। जो महिलाएँ अविवाहित ही मर जाती हैं, उनकी वहाँ शादी होती है और बच्चे भी होते हैं। इस प्रकार नेली में जीवन ठीक वैसा ही होता है जैसा यहाँ होता है। लोग वहाँ खेती और मजदूरी करते हैं और अंततः एक बार फिर मर जाते हैं और वे दुबारा नेली या मृतकों के लोक में चले जाते हैं।

बॉक्स 5.3 लेवी स्ट्रॉस के मिथक पर समझ

लेवी-स्ट्रॉस के विचार में मिथकीय संरचनाएं (प्रतीकात्मक संरचनाएं) का सामाजिक संरचनाओं के समान होने का यह कारण नहीं हैं कि मिथक संरचनाएं समाज का प्रतिबिंब है, बल्कि यह है कि मिथक और सामाजिक संरचना के पीछे मानव-मन की एक सर्वमान्य अंतर्निहित संरचना विद्यमान है। दूसरे शब्दों में, मिथक कहीं ज्यादा है उस अर्थ से जो मिथक की व्याख्या करने वाले के लिए होता है। मिथकों को जन्म देने वाले समाज के लिए कुछ प्रकार्य करते हैं लेकिन मिथक इन प्रकार्यों से भी अधिक है।

लेवी-स्ट्रॉस के अनुसार समाज में अपेक्षाकृत अधिक स्थायी ढंग की मानसिक संरचनाएं (मन में निहित संरचनाएं) हैं जो संस्कृति के विभिन्न रूपों को जन्म देती हैं। ये मानसिक संरचनाएं सार्वत्रिक (universal) मानव प्रकृति का अंश हैं। ये संरचनाएं विचारों के बीच एकता और विरोध को बताती हैं। इसे हम द्वि-आधारी (binary) विरोध कह सकते हैं। जिस प्रकार भाषा के पीछे व्याकरण होता है, उसी तरह संस्कृति (कोई भी प्रतीकात्मक रूप या मिथक) के पीछे तर्क या कूट संकेत (कोड) होता है।

लेवी-स्ट्रॉस ने मिथक का अध्ययन चिह्नों की व्यवस्था के रूप में किया। उसके अनुसार मिथक का संबंध मानव-मन की आधारभूत संकल्पनात्मक कोटियों (categories) से है। ये कोटियां कच्चा और पकाया हुआ, प्रकृति और संस्कृति, बायां और दायां आदि द्वि-आधारी विरोधी युग्मों के क्रम से बनी हैं। इस प्रकार मिथक एक ऐसे विषय का विवरण है जो कोटियों के विशिष्ट संयोजन में प्रस्तुत किया जाता है।

एडवर्ड टेलर, जेम्स फ्रेजर, ब्रोनसिलोव मलिनॉस्की, इमाइल दुर्खाइम आदि विद्वानों ने विभिन्न संस्कृतियों में व्याप्त अनुष्ठानों का मानवजाति शास्त्रीय विवरण देते हुए अनुष्ठानों के लिए दो अलग-अलग प्रकार की गतिविधियों का उल्लेख किया है।

i) पहले प्रकार की गतिविधियों का संबंध मुख्य रूप से धार्मिक कार्यों और प्रथाओं से है, मसलन पूजा, कर्मकांड, मंत्रोच्चार, कई प्रकार के हाव भाव और लय में आ जाना, ईश्वर के समक्ष नतमस्तक आदि क्रियाएं जिनका उद्देश्य ईवर से आध्यात्मिक संवाद स्थापित करना होता है। इस प्रकार हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईमाई आदि धर्म के अनुयायियों का मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरूद्वारे आदि में जाना और धार्मिक गतिविधियों और प्रथाओं का पालन करना अनुष्ठान कहलाता है।

   इसके अतिरिक्त अनुयायी अपने घरों में भी धार्मिक गतिविधियाँ करते हैं इन्हें भी अनुष्ठान कहा जाता है। हिन्दू, कुछ खास अवसरों पर पूजा करता है, मुल्ला की आवाज सुनकर मुसलमान नमाज पढ़ता है, ईसाई परिवार प्रार्थना (रोज़री अर्थात माला जपना) करता है, ये सब गतिविधियाँ घर के भीतर ही होती है।

ii) कुछ अनुष्ठान व्यक्ति के जीवन चक्र से भी संबंधित होते हैं। व्यक्ति जब एक सामाजिक चरण से दूसरे सामाजिक चरण में प्रवेश करता है तो इस समय भी कुछ अनुष्ठान किए जाते हैं। सभी प्रकार के समाजों में जन्म से लेकर मृत्यु तक एक व्यक्ति विभिन्न चरणों से होकर गुजरता है और इस दौरान कई प्रकार के बदलाव भी आते है। इस प्रकार के बदलाव के समय कुछ गतिविधियाँ सम्पन्न होती हैं जिनकी प्रकृति अनुष्ठानिक होती हैं।

अपनी पुस्तक *एलिमेंट्री फार्मस ऑफ रिलिजियस लाइफ* (1954) में दुर्खाइम ने बताया है कि सभी मानव समाज पवित्रता और अपवित्रता के दो खाकों में बंटा हुआ है। इन दोनों क्षेत्रों का अस्तित्व स्वतंत्र और अलग था। पवित्रता के क्षेत्र में ऐसी चीजें शामिल होती थी और वे निषिद्ध थी। अपवित्रता के क्षेत्र में आने वाली चीजों का उतना सम्मान नहीं होता था और वे सामान्य स्तर की मानी जाती थी।

दुर्खाइम के अनुसार अनुष्ठान पवित्रता के क्षेत्र में पनपने वाला मानव व्यवहार है। दुर्खाइम ने धार्मिक क्षेत्र के साथ साथ इस पवित्रता के क्षेत्र में निहित प्रथाओं और विश्वासों और व्यापक मानव समाज के सम्बन्ध का अनुभवजन्य परीक्षण करने के लिए आधार भूमि तैयार की है।

धर्म के अध्ययन को अनुभवजन्य दृष्टिकोण से देखने का परिणाम यह हुआ कि मानवशास्त्र में पवित्रता के क्षेत्र के अध्ययन में काफी तेजी आई। मलिनॉस्की, रैडक्लिफ, ब्राउन एवेन्स प्रिटकार्ड और अन्य विद्वानों ने समाज और धर्म के लिए विभिन्न जनजातीय समाजों के धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं का अध्ययन किया।

दुर्खाइम के अनुष्ठान सम्बन्धी परिभाषा को टेलकॉट पारसेन्स ने आगे बढ़ाया। उन्होंने सामाजिक व्यवस्था के सिद्धांत के तहत अनुष्ठान के अर्थ को समझने की कोशिश की। *सोसिआलोजी ऑफ रिलिजियन* की समीक्षा करते हुए उन्होंने बताया कि पवित्रता के क्षेत्र में निहित मानव प्रथाएं अनुष्ठान हैं। उनकी मुख्य विशेषता यह होती है कि वे तर्क से परे हाती हैं और वे अपनी प्रकृति में अपने अनुभव से परे होती हैं। परसेन्स के कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने तर्कसंगत व्यवहार के तहत कुछ करके पाने की आशा करता है, पर अनुष्ठान सम्बन्धी व्यवहार इस सीमा से परे होते हैं। वह अपने आप में एक लक्ष्य होता है।

अनुष्ठान का विकासात्मक सिद्धांत (Evolutionary Theories)

19वी शताब्दी के अंत में सांस्कृतिक विकासवादियों जैसे एडवर्ड टेलर और जेम्स फ्रेजर ने अनुष्ठान के सिद्धात के विकास का कार्य करने का आरम्भिक प्रयास किया। टेलर की *प्रिमिटिव कल्चर* (1871) 1958 और फ्रेजर की *द गोल्डेन बॉ* (1890) 1950 अर्थात इन दोनों पुस्तकों में अनुष्ठान व्यवहार को समझने के लिए एक बुनियादी दृष्टिकोण विकसित किया गया है। अनुष्ठान कही जाने वाली प्रथाओं को न तो टेलर ने और न ही फ्रेजर ने अनुष्ठान कहा। लेकिन टेलर ने महसूस किया कि मनुष्य के विश्वास का विकास तीन चरणों चमत्कार, धर्म और विज्ञान से हुआ है। ये विद्वान आदिम काल से (मनुष्य के चमत्कार काल में) जुड़ी प्रथाओं की ओर आकर्षित हुए।

अब इस बात की पुष्टि हो चुकी है कि धर्म संबंधी इन प्रारम्भिक विद्वानों ने धर्म को बड़े पर्दे पर लाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। टेलर और फ्रेजर के आदि धर्म पर लिखने वाले सभी समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों का प्रमुख कार्य मौजूदा सिद्धांतों को उत्कृष्ट बनाना था और इस क्षेत्र में अपना विशेष योगदान प्रदान करना था।

टेलर ने इन प्रथाओं को चमत्कारपूर्ण धार्मिक प्रथाएं कहा है। उनका मानना है कि मनुष्य सोना, मृत्यु, भाग्य आदि घटनाओं का कारण नहीं जान पाया था और अपनी बुद्धि के अनुसार अपने आप को संतुष्ट करने के लिए उन्होने इन क्रियाओं को चमत्कारपूर्ण मान लिया।

टेलर का मानना है कि इसके कारण ही जीववाद का विकास हुआ। यह चमत्कारपूर्ण धार्मिक व्यवहार का मूल रूप था।

जीववाद काल में मनुष्य जीवित और मृत वस्तुओं में जीवनी और चेतना की खोज करता था और इस काल के अनुष्ठान भी इसी प्रवृति से जुड़े थे। आदिम मनुष्य के इसी प्रकार के बौद्धिक प्रयास के कारण अनुष्ठानों का जन्म हुआ। टेलर का मानना है कि अनुष्ठानों का विकास चमत्कार और चमत्कारपूर्ण प्रथाओं से ही हुआ है। उनका यह भी मानना है कि चमत्कार के चरण और धर्म में एक स्पष्ट अंतर है। टेलर का मानना है कि समाजों के उदय के लिए ये चमत्कारपूर्ण प्रथाएं ही पहली स्पष्ट संस्थागत आधार बनी। फ्रेजर इन चमत्कारपूर्ण प्रथाओं को ''छद्म विज्ञान'' कहते हैं। उसका मानना है कि उसके माध्यम से आदिम मानव ने व्यक्तिगत और सामूहिक स्तर पर व्याख्या करने की पद्धति विकसित की और उन तमाम अनबुझे सवालों का उत्तर ढूँढ़ने का प्रयास किया जिनका सामन उन्हें रोज करना पड़ता था।

वस्तुतः आदिम मानव ने प्रकृति के रहस्य जानने की कोशिश की और इसे समझने के क्रम में ही उसने चमत्कारपूर्ण प्रथाओं की संस्था को जन्म दिया। टेलर, फ्रेजर दोनों ही अनुष्ठान को चमत्कारपूर्ण धार्मिक प्रथाओं का छद्म विज्ञान का रूप मानते हैं और इसे ही धर्म का मूल मानते हैं। इस प्रकार के सैद्धांतिक अनुमानों को प्रमाणित या अप्रमाणित करने के लिए कई ठोस मानवशास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन यह गौर करने की बात है धर्म और चमत्कार में अन्तर स्थापित कर टेलर ने धार्मिक प्रथाओं के क्षेत्र और अस्मिता पर आगे खोज करने का रास्ता प्रशस्त कर दिया है।

अनुष्ठान की कार्यात्मक व्याख्या (Functionalist Theories)

19वीं शताब्दी में विकासवादी विद्वानों ने धर्म का अध्ययन करते हुए धर्म और अनुष्ठान पर अपेक्षाकृत अधिक ज़ोर दिया और इसके लिए उनकी आलोचना भी की गई। इसके बाद भी विद्वानों ने धर्म का अध्ययन किया पर उन्होंने धर्म और अनुष्ठान पर बल देने के बजाय इन प्रश्नों का उत्तर खोजना शुरू किया कि मानव समाज में अनुष्ठानों की क्या भूमिका होती है या मानव समाज में अनुष्ठान को किस प्रकार का कार्य करना चाहिए? समाजशास्त्रीय सिद्धांत में इस प्रकार के दृष्टिकोण को कार्यात्मक दृष्टिकोण माना जाता है। एमाइल दुर्खाइम और मलिनॉस्की इस दृष्टिकोण के प्रमुख प्रवक्ता थे। अपनी पुस्तक *दि एलिमेंट्री फॉर्मस ऑफ रिलिजियस लाइफ* (1954) में दुर्खाइम ने धार्मिक जीवन के पक्षों पर विचार करते हुए नये ढंग से प्रश्न सामने रखे हैं और नये ढंग से खोज का प्रयास किया है। दुर्खाइम का मानना है कि इस संसार के सभी मानव समाजों में पवित्रता के संसार और अपवित्रता के संसार के बीच एक स्पष्ट विभाजन है। पवित्रता और अपवित्रता के इस विभाजन का उपयोग करते हुए दुर्खाइम ने धर्म का एक सिद्धांत सामने रखा है जिसके अनुसार धार्मिक प्रथाएँ और विश्वास किसी खास समुदाय विशेष के लिए एक प्रकार का सामाजिक कार्य करती हैं। इस प्रकार के सामाजिक कार्य को दुर्खाइम समाज में एकीकृत कार्य के रूप में देखते है।

अपनी बात को और स्पष्ट करने के लिए दुर्खाइम ने पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया की अरून्ता जनजाति के धार्मिक समारोहों का उल्लेख किया है जिनमें गणचिन्हों की पूजा सामुदायिक पूजा पद्धति को प्रतीकित करती है।

इस प्रकार अनुष्ठान दोहरी भूमिका निभाता है। वह सामूहिक मूल्यों को बल भी देता है और समुदाय के प्रति व्यक्ति की आस्था को भी मजबूत करता है। दूसरे शब्दों में दुर्खाइम धर्म और अनुष्ठान को समाज की एकीकृत शक्ति के रूप में देखता है। असल में यह दुर्खाइम के ''समाज की सामूहिक सजगता'' विचार का ही एक हिस्सा है। धार्मिक प्रथाओं और विश्वासों के माध्यम के समाज की सामूहिक सजगता संस्थागत रूप लेती है, एक बंधुत्व कायम करती

है और उन्हें समूह में बांधने का आधार प्रदान करती हैं। विभिन्न प्रकार के मौखिक उच्चारण में एक प्रकार का सामूहिक भाईचारा स्थापित हो जाता है। दुर्खाइम का मानना है कि इन अनुष्ठानों के माध्यम से अनुयायियों को यह मालूम होता है कि समाज में क्या भला है, क्या बुरा है। किसे अपनाना चाहिए, किसे नहीं अपनाना चाहिए आदि-आदि। कहने का तात्पर्य यह है कि इसके माध्यम से व्यक्ति समदाय की इच्छाओं से जुड़ता हजार एक समुदाय की सामूहिक पहचान बनती है।

दुर्खाइम यह भी मानते हैं कि प्रतीकात्मक स्तर पर अनुष्ठान सामाजिक समूह की सामुहिक पहचान का प्रतिनिधित्व करता हैं। अनुष्ठान प्रथाओं में काम आने वाली पवित्र वस्तुएँ इसलिए पवित्र होती है क्योंकि वे एक समूह की एक सामूहिक पहचान को प्रतीकित करती हैं। इसी प्रकार खास ढंग से उठना बैठना, चलना फिरना एक प्रतीक रूप है जिसका अर्थ आर मूल्य सामाजिक समूह के सदस्यों के लिए जानना जरूरी होता था। समाज के प्रत्येक सदस्य को इनका अर्थ पता नहीं होगा। बजाय इनके आमतौर पर ऐसे व्यक्ति पुजारी/पादरी आदि होते हैं। अनुष्ठान करने में जो निपुण होते हैं और उनका कार्य ऐसे अर्थों का प्रचार करना होता है।

अनुष्ठान और समाज के साथ उसके सम्बन्धों की व्याख्या करते हए दुर्खाइम ने सामाजिक समूह के महत्व पर काफी बल दिया है। ऐसा करते हए उन्होंने कहा है कि ''चमत्कार'' पवित्रता के क्षेत्र में नहीं आता क्योंकि इसमें सामूहिक पहचान का तत्व नहीं है।

इस प्रकार दुर्खाइम के अनुष्ठान सिद्धांत में सभी मानव संस्कृतियों में व्याप्त अनुष्ठानों के बीच एक तालमेल स्थापित करने की कोशिश की गई है। सभी संस्कृतियों के धर्म में पवित्रता और अपवित्रता का खाका बना हुआ है। पर इसमें एक समस्या है। दुर्खाइम ने कहीं भी पवित्रता और अपवित्रता के मानदंडों को स्पष्ट करने की कोशिश नहीं की है। क्या सभी संस्कृतियों में खास तरह की वस्तुएं और प्रतीक पवित्र माने जाते हैं या यह अन्तर अनुष्ठान में भाग ले रहे व्यक्ति के दिमाग की उपज होती है या यूरोपीय विद्वानों ने मात्र अपनी सुविधा के लिए. इस प्रकार का खाका बना लिया है और इस जटिल पक्ष को व्याख्यायित करने में असफल रहे हैं क्योंकि यूरोपीय समाज में ऐसा कुछ नहीं. पाया जाता। पवित्रता और अपवित्रता के इस विभाजन में दुर्खाइम को भी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। पवित्रता के इस उलझे प्रश्न को बाद में मानवशास्त्रियों ने अपने प्रायोगिक अध्ययन से सुलझाने की कोशिश की है। फिर भी हमें याद रखना चाहिए कि बाद के विद्वानों ने इस बात को उठाया कि पवित्रता और अपवित्रता के बीच का अंतर शायद पूरी तरह से बड़ा अंतर नहीं है।

मलिनॉस्की के अनुष्ठान पर विचार

इस शताब्दी के आरंभ में किये गये गैर-यूरोपीय संस्कृति के मानवशास्त्रीय अध्ययन से अनुष्ठानों के सिद्धांत को और बल मिला है। इसके तहत जनजातीय समाज के रोजमर्रा के जीवन में वास्तविक रूप में निहित पवित्रता के क्षेत्र का अध्ययन किया गया है। मलिनॉस्की और इवेन्स प्रिटकार्ड का अध्ययन इस दिशा में एक उल्लेखनीय प्रयास है।

मलिनॉस्की का अनुष्ठान संबंधी कार्यात्मक दृष्टिकोण *आर्गोनेटस् ऑफ दि वेस्टर्न पेसिफिक* (1922) में उल्लिखित त्रोब्रिएंड द्वीप समूह में रहने वाले लोगों के वास्तविक जीवन की खोजबीन को उजागर करता है। मलिनॉस्की के धर्म के कार्यात्मक सिद्धांत की चर्चा इससे पहले की इकाई में की जा चुकी है। दुर्खाइम की तरह अनुष्ठानों के बारे में मलिनॉस्की. भी आधारभूत समझ यह है कि समुदाय विशेष में सम्पन्न होने वाले अनुष्ठानों की एक सामाजिक भूमिका होती है।

वह टेलर के इस तर्क से सहमत नहीं हैं कि सरल समाज में मनुष्य द्वारा प्रकृति के छिपे रहस्यों को तर्क संगत परिणति देने के क्रम में अनुष्ठानों का जन्म हुआ। त्रोबिएंड द्वीप समूह में रहने वाले लोगों का अनुष्ठान न तो किसी अनुमान का परिणाम है न ही यह किसी अविकसित बुद्धि का फल है। अपने दैनिक जीवन में ट्रोब्रिएंड रहने वाले लोग चमत्कारपूर्ण तथ्यों और आम समझ या तकनीकी गतिविधियों का अन्तर साफतौर पर समझते हैं।

ट्रोब्रिएंड द्वीप समूह में रहने वाले लोगों ने इस चमत्कारपूर्ण प्रथाओं से भी कई विश्वास स्थापित किये हैं। जो काफी हद तक समुदाय के हिस्से के रूप में स्थापित है और यहाँ तक कि उनके पास यूरोपीय दृष्टिकोण के तहत कोई चर्चा जैसी चीज नहीं है। उनमें चमत्कारपूर्ण विश्वास भी समुदाय के लोगों के बीच एक दृढ़ बंधुत्व का सूत्र स्थापित करते हैं।

मलिनॉस्की का मानना है कि समुदाय के भीतर भावात्मक बंधुत्व स्थापित करना अनुष्ठान का महत्वपूर्ण सामाजिक कार्य है। सभी व्यक्तियों और समूहों को रोजमर्रा के जीवन में कष्ट, विपदा, डर, अच्छा और बुरा की नैतिक समस्याओं, महामारी, मृत्यु आदि का सामना करना पड़ता है। तनाव और भावात्मक कष्ट के मौकों पर अनुष्ठान व्यक्ति को समूह के साथ जोड़ते हैं और उन्हें एकता और सुरक्षा की भावना के बंधन में बाँधते हैं। अतः ऐसे अनुष्ठान संबंधी अनुभव अपने चरणबद्ध और प्रतीकात्मक क्रियाओं के माध्यम से उन्हें एक दूसरे से बाँधे रखते हैं और जो समुदाय के सदस्यों के मन-मस्तिष्क को एक जैसी नयी सोच प्रदान करते हैं।

इस दृष्टि से अनुष्ठान व्याख्यात्मक और वैधता संबंधी भूमिका निभाते हैं। मलिनॉस्की का मानना है कि व्याख्यात्मक भूमिका में अनुष्ठान "क्यों'' प्रश्न का उत्तर देता है। मनुष्य के जीवन में जीवन और अस्तित्व को लेकर कई "क्यों'' जुड़े हुए हैं। मनुष्य का प्रकृति पर वश नहीं है। समुदाय के रखरखाव और भलाई की व्याख्या भी इसमें समाहित है। जन्म-मृत्यु और जीवन चक्र से सम्बन्धित कई प्रकार की व्याख्याएँ अनुष्ठान से जुड़ी होती है। इस प्रकार के प्रश्न आदि काल से सभी संस्कृतियों में उठते रहे हैं और अनुष्ठान समुदाय के लोगों को प्रतिकात्मक रूप में इन प्रश्नों का जवाब देता रहता है।

अनुष्ठान सामाजिक समूह की संरचना को मजबूती और वैधता प्रदान करते है। इसलिए सामाजिक संबंधों, मूल्यों सामाजिक समूहों के उद्देश्यों आदि को अनुष्ठानिक प्रथाओं से मजबूती प्रदान की जाती है और अनुष्ठान समाज में प्रचलित मान्यताओं को वैधता प्रदान करता है। सामाजिक समूह के सदस्यों से यह आशा की जाती है कि वे इन मानदंडों के अनुरूप कार्य करें।

मैलोनस्की ने सरल समाज में व्याप्त अनुष्ठानों के अंतःसम्बन्धों और आपसी सहयोग पर भी ज़ोर दिया है। वह सर्वेक्षण करके बताते हैं कि ट्रोब्रिएंड द्वीप समूह में सामुदायिक जीवन के प्रत्येक पहलू से अनुष्ठान जुड़े हुए हैं। अनुष्ठान कई रूपों में सामाजिक संरचना के तंतुओं में गुंधे हुए हैं। राजनीतिक क्षेत्र में भी नेता की शक्ति को बढ़ाने और उसके स्वास्थ्य की कामना करने के लिए अनेक प्रकार के अनुष्ठान निर्धारित हैं। इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में समृद्धि के लिए अच्छी फसल के लिए और प्राकृतिक विपदा से बचने के लिए अनुष्ठान बनाये गये हैं। संक्षेप में यह कहना पर्याप्त है कि आदिम समाजों के जीवन से सम्बद्ध प्रत्येक पहलू से अनुष्ठान किसी न किसी रूप में जुड़े हुए हैं। इस दृष्टि से अनुष्ठान की अहम भूमिका मानी गई है।

अनुष्ठान के संबंध में दुर्खाइम और मलिनॉस्की के विचार में काफी हद तक समानताएं हैं। हालाँकि यह याद रखना चाहिए कि त्रोब्रिएंड द्वीप समूह के लोगों का वास्तविक तौर पर

अध्ययन कर मलिनॉस्की ने अनुष्ठानिक प्रथाओं के वैज्ञानिक परीक्षण की वास्तविक अधारशिला रखी। ऐसा करके उसने न केवल दुर्खाइम के चमत्कार संबंधी दृष्टिकोण को गलत सिद्ध किया बल्कि उसने त्रोब्रिएंड के लोगों का अध्ययन कर पवित्रता और अपवित्रता का क्षेत्र स्पष्ट कर दिया। इसके अतिरिक्त जहाँ दुर्खाइम ने समाज को जोड़ने में अनुष्ठानों की महत्वपूर्ण भूमिका मानी है वहीं मलिनॉस्की इसकी भावात्मक बंधुत्व की भावना पर बल देते है।

अनुष्ठान का प्रतीकात्मकता संबंधी आयाम (Symbolic Dimension of Ritual)

अनुष्ठान पर विचार करते हुए टेलर, फ्रेजर, दुर्खाइम, मलिनॉस्की और अन्य विद्वानों ने इसके प्रतीकात्मक पक्ष पर विचार किया है। प्रतीकात्मक रूप में अनुष्ठान क्या कहते हैं। संरचनात्मक मानवशास्त्री ने भी इस क्षेत्र में अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।

एक तरफ जहाँ अनुष्ठान संबंधी कार्यात्मक दृष्टिकोण का मानना है कि अनुष्ठान का एक सामाजिक दायित्व होता है वहीं दूसरी तरफ संरचनावादियों का मानना है कि अनुष्ठान सामाजिक दायित्व तक ही सीमित नहीं होते बल्कि उनका अध्ययन प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की व्यवस्था के रूप में किया जाना चाहिए जिसके द्वारा आदिम मानव अनबुझे तथ्यों को व्याख्यायित करने का प्रयत्न करता है। संरचनावादियों का यह भी मानना है कि पवित्रता और अपवित्रता के क्षेत्र में विश्व को बाँटने के लिए आदिम मनुष्य इसी संरचनात्मक नियम का पालन करता है। इस प्रकार पवित्रता और अपवित्रता एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं और ये अवचेतन में पड़े यथार्थ की संरचना से उत्पन्न होते हैं। दूसरे शब्दों में अनुष्ठान के प्रतीकात्मक महत्व को समझने के लिए पवित्रता और अपवित्रता के विरोधाभास से उनके सम्बन्ध को जानना जरूरी है।

एडमन्ड लीच का मानना है कि विरोधों के इस संदर्भ में अनुष्ठान एक प्रतीकात्मक व्याख्या है जो समुदाय के सामाजिक और सांस्कृतिक आयामों में ग्रहण किया जाता है।

5.4 समाज में धर्म की महत्व

मलिनॉस्की ने पश्चिमी प्रशांत सागर के ट्रोबिएण्ड द्वीप के निवासियों के जीवन का अध्ययन किया। यहाँ अधिकतर लोग मछुआरे थे, जिन्हें मछली पकड़ने के लिए खतरनाक समुद्री यात्राएँ करने के अलावा और भी कई तरह के अनुभवों से गुजरता पड़ता था, जिनको वे पूरी तरह से अपने नियंत्रण में नहीं कर पाते थे। मलिनॉस्की का कहना था कि ऐसे समय पर आदिम लोगों में भय, क्रोध उदासी आदि के जो भाव उठाते हें उनका शमन या निदान धार्मिक कार्यों अथवा कुछ अनुष्ठान सम्पन्न करके किया जा सकता है, जिनसे इन भावों पर विजय पाने में मदद मिलती है। अन्य शब्दों में अनिवार्यतः धर्म ऐसी दशा में लोगों को पुनः मासिक स्थिरता प्राप्त करने तथा भावनात्मक तनाव की स्थितियों को फिर से व्यवस्थित करने में सहायता करता है। यह भी कहा जा सकता है कि वह साधन बन जाता है जिसके सहारे विभिन्न परिस्थितयों से जूझा जा सके। उदाहरण के लिए द्वीपवासी लंबी यात्रा के लिए निकलते समय नाव पर अनुष्ठान तथा जादू करते थे ताकि रास्ते में वे किसी संकट में न फंसे। मानसिक तथा शारीरिक अस्थिरता की स्थितियों में वे इस प्रकार के अनुष्ठान संपन्न करते थे। अनुष्ठान और जादू-टोना समग्र रूप से समाज की क्रियाओं को प्रभावित करते हैं। इन अनुष्ठानों का तीव्र तनाव के समय और विशेषरूप से ऐसी सभी घटनाओं में अधिक बोलबाला होता है जिन्हें व्यक्त करना मनुष्यों के लिए कठिन होते है।

धर्म की उत्पत्ति के बारे में मैलिनॉस्की तथा उसके अनुयायियों ने प्रारम्भिक विकासवादियों की तरह प्रश्न पूछे परंतु प्रश्न के उत्तर विकासवादियों के उत्तरों से भिन्न थे। मैलिनॉस्की

ने धर्म की व्याख्या उसके प्रकार्य के संदर्भ में की और इस तरह धर्म की उत्पत्ति तथा विकास से संबंधि प्रश्नों के परंपरागत उत्तरों से वह ओर उसके साथी काफी आगे निकल आए। उसने विकास वादी सिद्धांतों के प्रकार्यवादी विकल्प प्रस्तुत किए। इसी श्रृंखला में आदिम समाज के बारे में केवल प्रेक्षण तथा तथ्य एकत्र करने तक सीमित न रहकर मलिनॉस्की के उत्तरवर्ती विद्वान रैडक्लिफ-ब्राउन ने समाजशास्त्रीय अवधारणाओं का इस्तेमाल करते हुए नृजातिविवरण के तथ्यों का विश्लेषण करने के प्रयास किए। वे दुर्खाइम के समाजशास्त्र के प्रति काफी आकर्षित हुआ।

ए.आर रैडक्लिफ-ब्राउन ने दुर्खाइन की टोटमवाद की अवधारणा को धर्म का बोधशील रूप देने का प्रयास किया। रैडक्लिफ-ब्राउन (1929:295-309) ने अपने लेख टोटमवाद का समाजशास्त्री सिद्धांत में यह दिखाया कि टोटमवाद मानव समाज में प्रचलित एक एक सार्वभौमिक नियम का एक विशेष रूप है। सार्वत्रिक नियम यह है कि समाज के भौतिक तथा अभौतिक (non-material) कल्याण से जुड़ी कई भी वस्तु धार्मिक व्यवहार का पात्र है। उदाहरण के लिए, जो लोग दूध के उत्पादों पर निर्भर हैं उनका दुधारू पशुओं के प्रति अनुष्ठानपरक व्यवहार होता है। रेडक्लिफ-ब्राउन धर्म की उत्पत्ति की मनोवैज्ञानिक आधार पर कोई व्याख्याओं से सहमत नहीं था।

इवन्स प्रिचर्ड (1965:74) ने रैडकिल्फ-ब्राउन के इस दृष्टिकोण की आलोचना की। ईवन्स-प्रिचर्ड का तर्क था कि अंडमान-निकोबार द्वीप समह के निवासियों में नृत्य के अवसरों का उल्लेख करते हुए रैडक्लिफ-ब्राउन ने धार्मिक आचरण की व्याख्या मुख्यता नर्तक के व्यक्तित्व तथा समुदाय में एकता पैदा करने वाली भावनाओं एवं क्रियाओं के संदर्भ में की है। इस उदाहरण के आधार पर रेडक्लिफ-ब्राउन ने मोटे तौर पर यह निष्कर्ष निकाला कि अनुष्ठानपरक दृष्टिकोण सामाजिक एकता तथा मेलजोल बढ़ाता है। ईवन्स प्रिचर्ड (1965:. 74) ने किसी एक उदाहरण के आधार पर सामान्य निष्कर्ष निकालने की इस प्रवृति पर आपत्ति की। उन्होंने इसके विपरीत मध्य अमेरिका का एक उदाहरण दिया, जहाँ नृत्यों के कारण अक्सर लड़ाई-झगड़ा तथा अषांति पैदा होती है। तीसरे रैडक्लिफ-ब्राउन का तर्क यह था कि धर्म समाज को एकजुट बनाए रखने के लिए काम करता है और धर्म के रूपों में भिन्नता समाज के प्रककारो के अनुरूप होती है। उदाहरण के लिए, जिन समाजों में वंश परंपरा चलती हैं, उनमें पूर्वज-पूजा का चलन पाया जाता है। ईवन्स प्रिचर्ड (1956 : 75) ने रैडक्लिफ-ब्राउन के इस दृष्टिकोण को भी गलत सिद्ध करते हुए तर्क दिया कि कुछ अफ्रीकी समुदायों में वंश परंपरा न होते हुए भी उनके बीच पितरों की पूजा का रिवाज है।

ईवन्स प्रिचर्ड ने रैडक्लिफ-ब्राउन के प्रकार्यवादी दृष्टिकोण की जिन आधारों पर आलोचना की. वे इस प्रकार हैं:

i) रैडक्लिफ-ब्राउन द्वारा प्रस्तुत की गई समाजशास्त्रीय व्याख्याओं में नकारात्मक प्रमाणों को ध्यान में नहीं रखा गया।

ii) रैडक्लिफ-ब्राउन के सामान्य निष्कर्ष एकदम अस्पष्ट हैं। उनका वैज्ञानिक महत्व बहुत कम है क्योंकि उन्हें न तो प्रमाणित किया जा सकता है और न ही उनका खंडन संभव है।

ईवन्स-प्रिचर्ड ने धर्म के प्रकार्यत्मक सिद्धांतों की आलोचना की। उसने कहा कि हमें इन संभावनाओं पर भी सोचना चाहिए कि केवल विशेष प्रकार के समाजों में विशेष प्रकार की धार्मिक प्रणालियां पाई जा सकती हैं।

यहाँ हमने भारतीय विद्वान एम.एन. श्रीनिवास के एक अध्ययन की चर्चा की है। श्रीनिवास रैडक्लिफ ब्राउन के छात्र तथा सहकर्मी थे और इस नाते उन्होंने धर्म के अपने अध्ययन में

रैडक्लिफ-ब्राउन की अनुष्ठान की अवधारणा (बॉक्स 3.04 देखिए) के माध्यम से दुर्खाइम के विचारों का प्रयोग किया। कुर्ग धर्म के अपने अध्ययन में श्रीनिवास ने धर्म की प्रकार्यवादी व्याख्या प्रस्तुत की है।

बॉक्स 5.4 रैडक्लिफ-ब्राउन की अनुष्ठान की अवधारणा

बीटी (1964 : 210) ने रैडक्लिफ-ब्राउन की अनुष्ठान की अवधारणा के बारे में लिखा है। चूकि लोगों का आचरण मुख्यतया इस बात से निर्धारित होता है कि उनके विचार में क्या महत्वपूर्ण है, अनुष्ठानों को सम्पन्न करने के पीछे महत्वपूर्ण सामाजिक परिणाम होते हैं यही रैडक्लिफ-ब्राउन के अनुष्ठान के सिद्धांत का केंद्रीय विषय था, जिसे उसने दुर्खाइम से ग्रहण किया। द अंडमान आइसलैंडर्स तथा अपने अन्य अध्ययनों में उसने तर्क दिया कि अनुष्ठान का मुख्य सामाजिक कार्य कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक भावनाओं (जिन्हें आजकल मूल्य कहा जाता है) जैसे कि किसी समुदाय के सदस्यों के बीच आपसी सहयोग तथा एकता की आवश्यकता को व्यक्त करना है। जब तक पर्याप्त संख्या में लोग इन मूल्यों में विश्वास नहीं रखते और इनका आचरण नहीं करते, तब तक समाज जीवित नहीं रह सकता और समाज में अनुष्ठानों के सम्पन्न होते रहने से ही वे लोगों के मन में मौजद रहते हैं। इससे समाज की निरंतरता सुनिश्चित रूप से बनी रहती है।

5.4.1 कुर्ग धर्म का उदाहरण

धर्म को समाज में एकता लाने वाला माना जाता है। दुर्खाइम की धर्म की इस व्याख्या का रैडक्लिफ-ब्राउन के माध्यम से एम.एन, श्रीनिवास पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव श्रीनिवास द्वारा किए कुर्ग समुदाय में धर्म के अध्ययन में स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। कुर्ग समुदाय कर्नाटक के पर्वतीय कुर्ग जिले में पाया जाता है। भारत के अग्रणी समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास ने 1940 के प्रारंभ में इस समुदाय के धर्म का अध्ययन किया।

श्रीनिवास ने कुर्ग लोगों के सामाजिक जीवन, विशेषकर धार्मिक विश्वासों ततथा आचारों पर बारीकी से गौर किया। उनका तर्क है कि धार्मिक अनुष्ठान एवं विश्वास कुर्ग समुदाय में विभिन्न स्तरों पर एकता को सुदृढ़ बनाते हैं। कुर्ग हिन्दू के लिए समाज की तीन महत्वपूर्ण संस्थाएं होती हैं। ये हैं- ओक्का, गाँव और जाति । लगभग सभी कुर्ग लोग किसी न किसी ओक्का के सदस्य हैं। ओक्का एक पितृवंश परंपरा समूह होता है। कई ओक्का से मिलकर एक गाँव बनता है, जहां पदक्रम के अनुसार ऊँचे-नीचे स्तर वाले जाति समूह होते हैं।

धर्म इन तीनों सामाजिक संस्थाओं के लिए विशिष्ट कार्य संपन्न करता है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण कार्य एकता का कार्य है। प्रत्येक ओक्का के अपने कुछ निश्चित अनुष्ठान हैं जो त्योहारों तथा अन्य समारोहों पर संपन्न किए जाते हैं। इसी प्रकार, गाँव अपने संरक्षण देवता का पर्व मनाते हैं और कई अनुष्ठान संपन्न करते हैं।

ग्राम स्तर पर मनाए जाने वाले पर्व जहाँ जातियों में अंतर को सामने लाते हैं, वही उन्हें एक-दूसरे के निकट भी लाते हैं। साथ ही, इन पर्वो से कुर्ग के सारे गांवों में भी एकजुटता की भावना पैदा होती है। आइए, अब हम इन तीनों सामाजिक संस्थाओं के धर्म के प्रकार्यों का वर्णन करें तथा देखें कि एकजुटता की भावना कैसे प्रकट होती है।

ओक्का की एकता (Solidarity of the Okka)

जैसे कि पहले बताया गया है, ओक्का पितृवंश परंपरा का समूह होता है। श्रीनिवास (1978 : 159) ने लिखा है कि रक्त संबंधों में जुड़े और एक ही पूर्वज के वंशज पुरुषों तथा उनकी

पत्नियों एवं बच्चों का समूह ओक्का कहलाता है। कोई भी व्यक्ति केवल जन्म के आधार पर ही किसी ओक्का का सदस्य होता है। समाज में व्यक्ति की पहचान उसके ओक्का के नाम से ही होती है।

प्रत्येक ओक्का की अपनी पैतृक अचल सम्पत्ति होती है, जिसका सामान्यता बंटवारा नहीं होता। कोई भी व्यक्ति अपने ओक्का में विवाह नहीं कर सकता। अन्य शब्दों में, विवाह दो विभिन्न ओक्काओं को संबंध-सूत्र में बांधता है। ओक्का का पैतक-गृह प्रायः बहुत बड़ा और कई कमरों वाला होता है। ओक्का के सदस्य एक साथ रहते और बड़े होते हैं। वे अनेक अनुष्ठान और विशेष रूप से पितरों को प्रसन्न करने वाले, अनुष्ठान एक साथ संपन्न करते हैं।

श्रीनिवास (1978 : 125) के अनुसार अनेक अवसरों पर ओक्का की एकता तथा सुदृढ़ता अनुष्ठानों में व्यक्त होती है। आइए विवाह के अवसर का उदाहरण लें। कुर्ग में विवाह के मौके पर दो महत्वपूर्ण धामिक कृत्य पूर किए जाते हैं। ये हैं- मुर्थ (murtha) और सम्पदा अनुष्ठान (sammanda rites)। मुर्थ शुभ मुहूर्त को कहते हैं। मुर्थ अनुष्ठान में वर या वधू के सभी संबंधी भाग लेते हैं।

कुर्ग विवाह में शुभ दिन को सबसे शुभ समय पर संपन्न किए जाते हैं। मुर्थ अनुष्ठान में वर या वधू के संबंधी उसे एक विशेष प्रकार के बर्तन (किंडी) में दूध देते हैं। यदि वर या वधू की मां विधवा नहीं हो तो सबसे पहले वही दूध प्रदान करती है। तीन बार मुर्थ अनुष्ठान हो जाने पर सम्मंदा अनुष्ठान पूरा किया जाता है। पहले दो मुर्थ अनुष्ठानों से वर और वधू के अपने-अपने संबंधी अपने-अपने स्थान पर एकत्र होते हैं। तीसरे मुर्थ में वर और वधू दोनों के संबंधी विवाह की रस्मों में एक साथ शामिल होते हैं।

सम्मंदा अनुष्ठान व्यक्ति के एक ओक्का से दूसरे ओक्का में प्रवेश के लिए किया जाता है। एक व्यक्ति एक समय पर एक ही ओक्का का सदस्य रह सकता है। शादी के बाद वधू अपने पैतृक ओक्का को छोड़कर पति के ओक्का की सदस्य बन जाती है। यदि वह विधवा हो जाए तो फिर से सम्मंदा अनुष्ठान करके उसे उसके पैतृक ओक्का में वापस लिया जा सकता है। सम्मंदा अनुष्ठान में कई प्रकार के धार्मिक कृत्य किए जाते हैं। संक्षेप में कहा जाये तो विवाह करने वाले वर और वधू के दोनों ओक्का दो अन्य मित्र ओक्काओं को साक्षी मानकर सार्वजनिक रूप से संबंध बनाने का संकल्प करते हैं।

विवाह के अलावा कई अन्य पर्वों तथा ग्राम-देवताओं के लिए आयोजित समारोहों में ओक्का के पितरों को प्रसन्न किया जाता है। इन आयोजनों के दौरान जटिल प्रकार के अनुष्ठान संपन्न किए जाते हैं, जिनसे ओक्का की एकता व्यक्त तथा पुष्ट होती है।

ग्रामीण एवं जातिगत एकता (Village and Caste Solidarity)

ग्राम पर्वो पर ग्रामीण समुदाय का सामाजिक भेदभाव उस समय दूर हो जाता है जब विभिन्न जातियों के लोग विभिन्न समारोहों में शामिल होते हैं। साथ ही, अनेक धार्मिक परंपराओं और अनुष्ठानों के माध्यम से ऑक्का, जाति तथा ग्रामों के बीच एकता व्यक्त होती है।

फसल कटाई उत्सव में गांव के प्रत्येक ओक्का से सभी वयस्क पुरुष सामूहिक नृत्यों में भाग लेने जाते हैं। ग्राम देवताओं के समारोहों के अंत में सामूहिक शिकार का आयोजन होता है और उसमें भी सभी ओक्का अपने वयस्क पुरुषों को भेजते हैं। श्रीनिवास के अनुसार ग्राम में पैदा हो गई विभिन्न ओक्काओं की आपसी कटुता सामूहिक नृत्य और शिकार से होती है। फलतः सामाजिक व्यवस्था अक्षुण्ण बनी रहती है।

ग्राम देवता का पर्व तब प्रारंभ होता है जब गांव के लोग सामूहिक रूप से शपथ लेते हैं कि वे समारोह के अंत तक कुछ निषेधों का पालन करेंगे। इनमें गांव की सीमा में ताडी पीने तथा पशु-हत्या पर पाबंदी शामिल है। इन नियमों में घर स्वच्छ रखना, घर में पवित्र दीया जलाना और नृत्य तथा गान कार्यक्रमों में भाग लेना भी शामिल है। ग्राम समारोह के अंत में पूरे गांव के लिए भोज का आयोजन होता है। इस ग्राम भोज को उरेमि (urorme) अर्थात ग्राम सदभाव भोज पुकारा जाता है। कुर्गी ओक्का के भाईचारे के ऐसे तथ्यों की छवि भारत के अन्य ग्राम समाजों में भी पाई जाती है। असल में गांव के अपने भाईचारे के लिए ग्राम समितियों के सदस्यों की निरंतर बैठकें होना आवश्यक है और दबाव तमा के समय भी उनका एकता दिखाना आवश्यक है। ऐसे अवसरों पर धार्मिक विवेचना और अनुष्ठान कुछ ऐसी चीजें हैं जिनका आहवान और आयोजन आवश्यक होता है।

ग्राम समारोह में जातियों की पहचान का तत्व भी शामिल है। श्रीनिवास ने बेंगूर के केत्रप्पा पर्व का उदाहरण पेश किया है। इस समारोह में ऊंची जातियों सदस्य के देवता को प्रसाद के रूप में चढ़ाने के लिए मुर्गियां और सूअर लाते हैं। मुर्गियों का सिर काटने का अधिकार कूर्ग को, और सूअर का शिरोच्छेदन करने का अधिकार पनिका समुदाय को है। परंतु मेडा और पोलेया जैसी जातियों के लोगों द्वारा चढ़ाए गए पशुओं का सिर न तो कुर्ग और न ही पनिका काटते हैं। इन जातियों द्वारा चढ़ाए गए पशुओं का शिरोच्छेदन केवल मेडी ही करते हैं । इस प्रकार के अनेक अवसरों पर जातिगत पदक्रम देखने को मिलता है और श्रीनिवास ने अपने अध्ययन में ऐसे कई उदाहरणों का उल्लेख किया है।

फसल कटाई त्योहार तथा इस प्रकार के अन्य वार्षिक उत्सवों पर नाड के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। नाड कई गांवों के समूह को कहते है। महामारी की रोकथाम के लिए आवश्यक अनुष्ठान नाड तथा ग्राम दोनों स्तरों पर आयोजित किए जाते हैं। किसी नाड या ग्राम के मंदिर पर हमला करने वाले को समूचे नाड गांव के कोप का सामना करना पड़ता है। एक अन्य उदाहरण ले तो यह देखने में आता है कि जब एक गांव में किसी देवता विशेष का पर्व मनाया जाता है अन्य गांवों के मंदिरों द्वारा उस गांव को उपहार भेजे जाते हैं। इस प्रकार कुर्ग समाज में धार्मिक पर्व और अनुष्ठान जातियों, ओक्का एवं गांवों में एकता स्थापित करते हैं।

बोध प्रश्न 2

i) मुर्थ तथा सम्मंदा अनुष्ठानों के महत्व पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) कुर्ग के गांवों में ग्राम देवता के पर्व से किस प्रकार गांव की एकता सुदृढ़ होती है?

.....

.....

.....

.....

.....

5.5 सारांश

धर्म कई सामाजिक कार्य करता है। यह समाज को एक नैतिक समुदाय में बदल देता है। दुर्खाइम द्वारा दी गई धर्म की व्याख्या का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया गया। यह तर्क दिया गया कि उसका पवित्र-लौकिक का विभाजन सार्वत्रिक प्रतीत नहीं होता है। इस आलोचना के बाद धर्म के अध्ययन में प्रकार्यवादी दृष्टिकोण के और आगे हुए विकास का विवेचन किया गया। हमने मैलिनॉस्की और रैडक्लिफ-ब्राउन के विचारों की भी चर्चा की।

अंतिम भाग में कुर्ग समुदाय के धार्मिक अनुष्ठानों और समारोहों के प्रकायों पर प्रकाश डाला गया। कुर्ग समुदाय में विशेष रूप से विवाह समारोह के अनुष्ठान ओक्का की एकता को पुष्ट करते हैं। यह ही दिखाया गया है कि ग्राम पर्यों और ग्राम देवता समारोहों से अलग-अलग ओक्का, जातियों तथा गाँवों के बीच भी आपसी एकता सुदृढ़ होती है। यह ब्योरा यहां धर्म के प्रकार्यवादी अध्ययन के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया।

5.6 संदर्भ

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय पाठ्यसामग्री (2005), *भारत में समाज* (ESO-12) नई दिल्ली इग्नू।

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालप पाठ्यसामग्री (2005), *समाज और धर्म* (ESO-15), नई दिल्ली : इग्नू

एम.एन. श्रीनिवास (1978) रिलिजन एंड सोसाइटी अमंग दी कुर्गस ऑफ साउथ इंडिया, मुंबईः मीडिया प्रमोटर्स।

5.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) दुर्खाइम के मूलभूत तर्क इस प्रकार हैंः

   क) धर्म, विशेषकर टोटमवाद, का केंद्र-बिंदु पवित्र-लौकिक का विभाजन है। पवित्र के प्रति लौकिक के दृष्टिकोण से ही चिंतन की मूलभूत श्रेणियां जैसे कि देश, काल और वर्ग की उत्पत्ति हुई।

   ख) धर्म, संसार को समझने तथा स्वयं को जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने में मनुष्य को मदद देता है।

   ग) धर्म तथा ईश्वर समाज की ही रचना हैं। जब समाज ईश्वर की पूजा करता है तो वह अपनी ही पूजा करता है और इस प्रक्रिया से वह नैतिक समुदाय का रूप ग्रहण कर लेता है।

ii) पवित्र-लौकिक का विभाजन चिंतन की मूलभूत श्रेणियों को जन्म देता है। इसके अलावा, लौकिक के पवित्र तक पहुंचने के लिए निर्धारित नियमों तथा अधिनियमों के कारण समाज नैतिक समुदाय का रूप ग्रहण करता है।

बोध प्रश्न 2

i) मुर्थ एक अनुष्ठान है जो कुगो में सबसे शुभ मुहुते में सम्पन्न किया जाता है। जिस व्यक्ति के लिए यह अनुष्ठान किया जाता है, उसके संबंधी उसे एक विशेष प्रकार के

बर्तन-किंडी-में दूध देते हैं। तीन मुर्थ अनुष्ठान सम्पन्न किए जाते हैं। पहले में वर तथा उसके संबंधी, दूसरे में वधू तथा उसके संबंधीय और तीसरे में वर-वधू तथा उन दोनों के संबंधी एकजुट होते हैं। वधू अपने ओक्का की सदस्यता छोड़कर वर के ओक्का की सदस्या बनती है। विधवा हो जाने पर स्त्री पुनः इस अनुष्ठान के द्वारा अपने पिता के ओक्का की सदस्या बन सकती है। कृ

ii) ग्राम देवता के समारोहों के दौरान अनेक रीति-रिवाज सम्पन्न किए जाते हैं, जिनमें विभिन्न ओक्का तथा जातियां एकजुट होती है। उदाहरण के लिए, समारोह के अंत में होने वाले सामूहिक शिकार में सभी ओक्का को अपने वयस्क पुरुषों को भेजना होता है। प्रत्येक पर्व के अवसर पर प्रत्येक ओक्का और जाति (बड़ी-छोटी सभी) का अपनी-अपनी भूमिका रहती है। समारोह के अंत में सारे गांव के लिए "सद्भाव भाज आयोजित होता है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 6 शरीर : जीवन चक्रीय संस्कार*

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 संस्कारों के मुख्य पहलू

6.3 संस्कारों के विभिन्न कार्य

6.4 विभिन्न समुदायों में जीवन चक्रीय संस्कार

- 6.4.1 हिन्दु समुदाय
- 6.4.2 सिरियाई इसाई समुदाय
- 6.4.3 सिक्ख समुदाय
- 6.4.4 मुस्लिम समुदाय
- 6.4.5 कोरकु समुदाय

6.5 सारांश

6.6 संदर्भ

6.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- धर्म की प्रतीकात्मक व्याख्या कर सकेंगे;
- संस्कारों के वर्गीकरण पर चर्चा कर सकेंगे;
- आदिवासी समाजों में धर्म का वर्णन कर सकेंगे;
- कुछ विशेष समुदायों में जन्म, विवाह एवं मृत्यु के संस्कारों का वर्णन कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

जब हम जीवन चक्रीय संस्कारों पर गौर करते हैं तो हम देखते हैं कि वे धर्म के मूल तत्व होते हैं। फिर, जीवन चक्रीय संस्कारों का संबंध जीवन के चक्र से अधिक होता है जिसमें जन्म, विवाह और मृत्यु है। फिर भी, यह आवश्यक नहीं है कि संस्कार इस प्रकार के रेखीय पथ पर चलें। मतलब यह है कि जन्म और मृत्यु के बीच कोई स्त्री या पुरूष दो से अधिक तलाक और शादियाँ भी कर सकता है। यह एक सार्वभौमिक सत्य ही है। जीवन चक्रीय संस्कारों का अध्ययन अक्सर गर्भाधान से शुरू होकर गर्भावस्था के दौरान होने वाले विभिन्न संस्कारों से होता हुआ शिशु जन्म तक चलता रहता है। इसके बाद दीक्षा के संस्कार और फिर विवाह तब या विवाह के योग्य होने तक के संस्कार आते हैं। ये न केवल हिंदुओं में अपितु जनजातीय धर्मों में भी संपन्न होते हैं। (देखें सरस्वती 1977, 1984)

*इग्नू पाठ्यसामग्रीः *समाज और धर्म* (ESO-15) की त्रिभुवन कपूर द्वारा रचित, इकाई 28 और 29 और *भारत में समाज* (ESO-12) की इकाइ 16 से अंगीकृत, नीता माथुर द्वारा संशोधन

इस इकाई का प्रारंभ हम संस्कारों के परिचय के साथ करेंगे, फिर हम सरस्वती (1984) की संस्कार संबंधी भूमिकाओं की चर्चा करेंगे, फिर हम हिन्दु, इसाई, सिक्ख, मुस्लिम और कोरकु समुदायों में संस्कारों का वर्णन और विश्लेषण करेंगे।

6.2 संस्कारों के मुख्य पहलू (Major Aspects of Ritual)

'संस्कार' शब्द को केवल इस अर्थ में समझा जा सकता है कि इस का उपयोग/प्रयोग कौन कर रहा है। पादरी के संदर्भ में सभी संस्कार गिरजाघर के अंदर संपन्न होते हैं। लेकिन एक चिकित्सक के संस्कार उसके रोगी या रोगियों की कुछ आदतों से जुड़े हैं। दुर्खाइम के अनुसार संस्कार वस्तुतः व्यवहार की प्रणाली होते हैं जो यह निश्चित करते हैं कि व्यक्ति को पवित्र वस्तुओं की मौजूदगी में कैसा व्यवहार करना चाहिए। (दुर्खाइमः 1915) डेनियल डि कोपे (1992) के संपादन में हाल में आए एक प्रकाशन में संस्कार को एक विशेष प्रकार की क्रिया बताया गया है जो अपने आप में क्रिया भी है और वक्तव्य भी। संस्कार किसी समाज की सांस्कृतिक अस्मिता या पहचान और सामाजिक संबंधों की रचना करते हैं और उन्हें बनाए रखने या उनके रूपांतरण का काम करते हैं। इस तरह, संस्कार क्रिया तो होती ही है, साथ ही वह संवाद की भूमिका भी अदा करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि संस्कार के संदर्भ में मनुष्य के काम संवाद भी करते हैं। संस्कार को समझने के प्रयास में हम एक अज्ञात भाषा के व्याकरण और वाक्य विन्यास का पता लगाने का प्रयास कर रहे होते हैं।

जैसा कि रेडक्लिफ-ब्राउन (1966) का कहना है, जीवन के संकटकालीन संस्कार समाज पर उसकी "भावनाओं'' को तरोताजा करने का प्रभाव डालते हैं, और इसे सशक्त करते हैं। वैन जेनेप (1966) ने इन संस्कारों या उत्सवों को पारगमन के अनुष्ठान कहा है और उसके अनुसार ये सभी समाजों में पाए जाते हैं। उसके अनुसार इसके तीन मुख्य चरण आसानी से देखे जा सकते हैंः

i) विच्छेद

ii) संक्रमण/संक्रांति

iii) समावेशन

इन चरणों को जन्म, विवाह और मृत्यु में देखा जा सकता है। अपने विषय के संबंध में हम देखते हैं कि विच्छेद, संक्रमण और समावेशन की धारणाएँ इन संस्कारों के साथ पाए जाने वाले तनाव या संक्रांति का संकेत देती हैं। इस प्रकार, जन्म, विवाह और मृत्यु के जीवन चक्रीय संस्कारों में तनाव से निपटने की एक अंतर्निहित विधि अवश्य होती है। इसी तरह के विचार पूर्व संक्रांति, सक्रांति और उत्तर संक्रांति के तथ्यों के अर्थ में व्यक्त किए गए हैं। संक्रांति को हम ''दहलीज'' के अर्थ में लेते हैं और प्रत्येक जीवन संकटकालीन या जीवन चक्रीय संस्कार दहलीज को पार करते समय इस तनाव या संक्रांति की अनुभूति से गुजरता है। हम बाद में दिए उदाहरणों में इन श्रेणियों का उल्लेख करेंगे।

तनाव, शिशु जन्म, विवाह और मृत्यु के समय उत्पन्न होता है क्योंकि इन सभी घटनाओं की बहुत सजगता से देखरेख करनी पड़ती है। विशेषरूप से मृत्यु में भय की अनुभूति अनिवार्य होती है, ऐसा ही शेष घटनाओं में भी होता है। वैसे, जैसे कि वैन जेनेप की महत्वपूर्ण टिप्पणी है, विच्छेद, संक्रमण और समावेशन के तीन प्रमुख चरणों का सभी लोग या प्रत्येक उत्सव में समान रूप से विकास नहीं होता। विच्छेद के अनुष्ठान अंतिम संस्कार के समय प्रमुख होते हैं। समावेशन के अनुष्ठान विवाह संस्कार के समय प्रमुखता ग्रहण करते है। संक्रमण के अनुष्ठान गर्भावस्था और दीक्षा के संस्कारों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

6.3 संस्कारों के विभिन्न कार्य (Functions of Rituals)

अब हम संस्कार के कार्यों की चर्चा करेंगे ये कार्य किसी भी जीवन चक्रीय संस्कार का एक महत्वपूर्ण अंग होते हैं। ये कार्य सामान्यतः इन जीवन चक्रीय संस्कारों में सम्मिलित रूप में मौजूद रहते हैं। सरस्वती (1984: 98-104) के अनुसार, संस्कार सभी धर्मों के मूल तत्व हैं। संस्कार के नियम मौखिक या लिखित रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किए जाते हैं और, जैसा कि सरस्वती का कहना है ''सांस्कारिक क्रिया के माध्यम से न केवल संस्कार को संपादित करने वाले का बल्कि आयोजक समाज का कल्याण होता है'' (वही)। सरस्वती के अनुसार संस्कार ''एक अनिवार्य सामाजिक व्यवहार होता है जिसे विभिन्न अवसरों के लिए निर्धारित किया जाता है।'' संस्कार उसमें भाग लेने वालों को, विश्वास और कर्म दोनों में एक समुदाय के रूप में बांधे रखता है। यह सामाजिक और पारलौकिक दोनों लोकों को अर्थपूर्ण व्यवस्था प्रदान करता है। सांस्कारिक अनुभव में भागीदारी और भी अटूट बंधन का कारण बनती है। धार्मिक व्यवहार और संस्कार धर्मनिरपेक्ष या लौकिक संस्कार से भिन्न होता है। लेकिन, धार्मिक संस्कार एकदृष्टि से सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखता है और धर्मनिरपेक्ष संस्कार दूसरी दृष्टि से।

सरस्वती ने संस्कार के सामाजिक कार्य बताए हैं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि समाज द्वारा किये गये ये कार्य हमें यह संकेत देते हैं कि संस्कार की एक विशिष्ट भूमिका होती है। इस भूमिका में रैडक्लिफ-ब्राउन (वही) के अनुसार समाज को संसक्त करने और समाज में निहित मूल्यों और आदर्शों को तरोताजा करने के कार्य भी शामिल है। इसमें समाजीकरण का पक्ष भी सम्मिलित है। इस प्रकार, संस्कार एक शिक्षण का उपकरण है, और जैसा कि सरस्वती ने कहा है, इसके कार्यों में समाजीकरण के अलावा सामाजिक नियंत्रण, अस्मिता के अनुष्ठान आदि भी शामिल हैं। इस पर हम नीचे विचार कर रहे है, और हम विद्यार्थियों से कहेंगे कि वे इन कार्यों को उन संस्कारों में पहचानने का प्रयास करें जिनका हम आगे वर्णन करेंगे:

i) **समाजीकरण के रूप में संस्कारः** सभी समाजों में जीवन चक्रीय संस्कार होते हैं। ये संस्कार दो प्रकार के होते हैं, अर्थात, गर्भाधान से अंत्येष्टि तक के संस्कार, और दूसरे दैनिक या मौसमी बलि देना।

ii) **सामाजिक नियंत्रण के रूप में संस्कारः** संस्कार का महत्व समाकलनात्मक होता है और यह सामाजिक व्यवस्था को दुरुस्त रखता है। इनका संबंध पारलौकिक पुरस्कार या दंड से होता है। यह नियामक व्यवस्था का एक अटूट अंग होता है। इस प्रकार, सांस्कारिक व्यवस्था को बनाए रखने से सामाजिक व्यवस्था और आत्मिक व्यवस्था भी कायम हो जाती है।

iii) **पुण्य और प्रस्थिति के रूप में संस्कारः** संस्कार की परिणति धार्मिक पुण्य में होती है और यह पुण्य और प्रस्थिति के लिए किया जाता है। इसका प्रयोग करने वाले को सामाजिक प्रतिष्ठा और आध्यात्मिक पुण्य मिल जाता है।

iv) **अस्मिता के रूप में संस्कारः** अनुकरण का संस्कार प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य है। इसके बिना सदस्यता प्राप्त नहीं हो सकती। संस्कार के रूप में किसी अंग का छेदना, खनना और कान को छेदना सभी अस्मिता के संस्कार हैं।

v) **आध्यात्मिक उत्थान के रूप में संस्कारः** प्रार्थना, तीर्थयात्रा, पूजा और दीक्षा से संबंधित संस्कारों का उद्देश्य आध्यात्मिक उत्थान होता है।

vi) **अमौखिक संवाद के रूप में संस्कारः** संस्कार में विभिन्न किस्म का दीक्षा संबंधी और सामान्य संवाद होता है। उनमें शब्द और स्थान का प्रयोग इस प्रकार का होता है कि वह आदिरूपी नजर आता है। दीक्षा संबंधी संस्कार का अर्थ गूढ और विशिष्ट होता है और वह केवल पुरोहित और अन्य विशेषज्ञों को उपलब्ध रहता है। सामान्य संवाद सभी संबंधित व्यक्तियों को उपलब्ध रहता है।

vii) **संस्कार और उत्कृष्टता का संवर्धनः** लोगों को सौंदर्य के रसपान का बोध और सौंदर्य बोध, सांस्कारिक चित्रों और प्रतीकों में अच्छी तरह प्रतिबिंबित होता है। यहाँ संस्कार की परिणति उत्कृष्टता में होती है। यह नाच, चित्रकला या दस्तकारी के रूप में हो सकता है। सरस्वती (वही) के अनुसार ''कोई भी ब्राह्मणीय संस्कार सौंदर्यशास्त्रीय महत्व से रहित नहीं होता।''

viii) **उपचार के रूप में संस्कारः** तंत्र-मंत्र और जादू-टोने या ओझाई संस्कारों की मदद से कई समाजों में कष्टों का निवारण भी किया जाता है। यह बात सरल धर्मों के संदर्भ में जितनी सही है उतनी ही जटिल और मिश्रित धर्मों के संदर्भ में भी लागू है।

ix) **व्यवसाय के रूप में संस्कारः** संस्कार के विशेषज्ञ सभी समाजों में होते हैं और उन्हें अतिरिक्त विशेषाधिकार और आर्थिक लाभ मिले होते हैं। हिंदुओं के तीर्थस्थानों में इस तरह का सांस्कारिक व्यवसाय बहुत मुनाफे वाला हो सकता है।

x) **जीवन शैली के रूप में संस्कारः** धार्मिक व्यक्ति संस्कार के दायरे में रहता है। वह संस्कारों का प्रयोग दैनिक अनुष्ठानों, वार्षिक उत्सवों और कुछ पर्वों में भी करता है।

इस तरह, हम कह सकते हैं कि संस्कारों के उपर्युक्त कार्य सरस्वती के बताए गए कार्यों के विस्तृत विषय क्षेत्र में आते हैं।

बोध प्रश्न 1

i) वैन जेनेप ने परागमन के संस्कार की कौन सी तीन किस्में बताई हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) सरस्वती ने संस्कार के जो कार्य बताए हैं उनमें से चार का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6.4 विभिन समुदायों में जीवन चक्रीय संस्कार

अब हम ध्यान विभिन्न समुदायों में प्रचलित जीवन चक्रीय संस्कारों पर केन्द्रित करेंगे। प्रत्येक समुदाय विषम है और प्रत्येक समुदाय में अनुष्ठान अद्‌भुत और अलग-अलग तरह से किये जाते हैं। इस पृथकता की चर्चा करना यहाँ असंभव है, इसलिए हम प्रत्येक समुदाय के एक व्यापक स्वरूप में जीवन चक्रीय संस्कारों की चर्चा करेंगे।

6.4.1 हिन्दु समुदाय

राज बाली पांडे ने अपनी पुस्तक *'हिन्दु संस्कार'* (1976) में संस्कारों की निम्न योजना बताई हैः (i) जन्म से पूर्व के संस्कार; (ii) बचपन के संस्कार; (iii) शिक्षा के संस्कार; (iv) विवाह के संस्कार; और (v) अंतिम संस्कार।

जन्म से पूर्व होने वाले संस्कारों का उद्देश्य गर्भपात को रोकना, बुरी शक्तियों को दूर रखना और महिला को प्रसन्न रखना होता है। अब हम 'जातकर्म' अर्थात् जन्म के उत्सवों की चर्चा करेंगे। ये बचपन के संस्कार होते हैं। जातकर्म संस्कार शिशु की नाल काटने से पहले किया जाता था। ये सांक्रांतिक संस्कार होते है और इनसे तनाव तेजी से और स्पष्ट रूप से घटता है और ये संस्कार तनाव के स्तरों को ''मेधा-जनन'' और ''आयुष'' संस्कारों तक नियंत्रण में रखते हैं अब हम इन्हीं संस्कार चर्चा करेंगे। .

मेधा-जनन (Medha-janana) संस्कार पहले दाहिने हाथ की तर्जनी से किया जाता है। पिता सोने की कोई वस्तु हाथ में ले कर बच्चे को शब्द और घी या केवल घी देता था। पिता की दी हुई ये चीजें बच्चे के मानसिक विकास के लिए अच्छी मानी जाती थीं। वे सुंदरता बढ़ाने के लिए, पाचन शक्ति ठीक रखने वाली और प्रतिभा उत्पन्न करने वाली, भी होती थीं। फिर ''आयुष'' संस्कार लंबी आयु सुनिश्चित करने के लिए किया जाता था। इसमें पिता बच्चे के कान में उपयुक्त मंत्र फूंकता था। पाँच ब्राह्मण बच्चे पर अपनी सांस फूंकते हैं। ऐसी मान्यता है कि उनकी सांसों से बच्चे को लंबी आयु प्राप्त होती है। इस तरह यह संस्कार बच्चे की सांस को मजबूत करने और लंबी आयु देने के लिए होता था। अगला संस्कार ''शक्ति'' बढ़ाने के लिए होता था। इसमें पिता उपयुक्त छंद बोलता था।

नाल काटी जाती है, बच्चे को अच्छी तरह से नहलाया-धुलाया जाता है और फिर माँ के स्तन से लगा दिया जाता है। अगला संस्कार ''नामकरण'' संस्कार होता है। जिसमें बच्चे का नाम रखा जाता है।

अब हम विवाह के संस्कारों और उनके प्रतीकों की चर्चा करेंगे। संस्कारों से आपको पता चलेगा कि वैन जेनेप का विच्छेद, संक्रांति और समावेशन का वर्गीकरण अभी मौजूद है। हिन्दुओं के विवाह में अक्सर निवास का परिवर्तन भी होता है जिसके संस्कार में संक्रांति का तत्व भी जुड़ जाता है। सरस्वती के अनुसार ब्रह्म विवाह में दो प्रकार के संस्कार होते हैंः शास्त्राचार और लोकाचार। शास्त्राचार का पालन शास्त्रों में दिए गए नियमों के अनुसार होता है। मौखिक रूप से दिए संस्कार लोकाचार होते हैं। गंधर्व या पिशाच विवाह में पहले ही शारीरिक संबंध स्थापित हो जाता है, वहाँ भी विवाह को वैध करने के लिए शास्त्र संबंधी संस्कार किए जाते है। वैसे स्त्रियों और गांव वालों को लोकाचार भी पूरा करना होता है। सरस्वती (वही) के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों और गाँवों में अनेक प्रथाएँ होती हैं। जिनका पालन विवाह के समय होता है।

शास्त्राचार की मुख्य विशेषताएँ ये हैं कि उसमें लिखित पाठ, शास्त्रीय अधिकारिकता होती है और संस्कार के संपादन का काम पुरुष पुरोहित करता है। इसमें मंत्र आवश्यक होते हैं

और घी का प्रयोग किया जाता है। विवाह में भी मुख्य रूप से शुद्धीकरण के माँगलिक संस्कार होते हैं। संस्कारों के लिए शुभ घड़ी का होना अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। इसमें नियमों का परिपालन लोकाचार की तुलना में अधिक व्यापक होता है। इसमें शास्त्रीय परंपरा का सम्मान होता है और वर तथा दोनों के घरों पर उसका पालन होता है। ये संस्कार विवाह को और उसके परिणामस्वरूप होने वाले बच्चों को वैधता प्रदान करने के .लिए आवश्यक होते हैं।

आइए अब लोकाचार के बारे में जानकारी प्राप्त करें। इसमें मौखिक ज्ञान का उपयोग होता है। लोकाचार में स्त्रियों का वर्चस्व होता है सांस्कारिक समारोहों में वे ही आगे रहती हैं। इसमें गीत और जादू-टोना होता है, किन्तु बलि नहीं होती। इसमें भी संस्कार जादुई तत्व लिए होते हैं। इसमें संस्कारों का एक निश्चित क्रम होता है। इसके नियम स्मृति में और मुख्य रूप से स्थानीय प्रकृति के होते हैं। लोकाचार की मौखिक परंपरा वर और वधू के लिए अलग-अलग होती है। मौखिक अनुष्ठान अनिवार्य या आवश्यक तो नहीं होते हैं, किन्तु उनमें अर्थ और भावना की गहनता होती है।

पांडे (1976) ने एक पद्धति को उद्धृत्त किया है। इसके अनुसार, ''केवल पिता को ही कन्यादान करने का अधिकार होता है, उसके न होने की स्थिति में कोई और यह रस्म पूरी कर सकता है। इस तरह, दादा, भाई और माँ सहित अन्य लोगों को कन्यादान का अधिकार होता है। संकल्प बोलने के बाद औपचारिक रूप से कन्या का दान कर दिया जाता है। पांडे द्वारा उद्धृत पद्धति की तुलना में सरस्वती (1977) द्वारा उद्धृत पद्धति में सप्तपदी को अधिक महत्व दिया गया है। यह सात कदमों की रस्म होती है और इसके बिना विवाह अध ूरा रहता है। वर और वधू उत्तर की दिशा में सात कदम चलते हैं। यह भी लोकाचार की ही एक रस्म होती है कि वर-वधू पवित्र अग्नि के सात फेरे लगाते हैं। वधू की साड़ी वर की पगड़ी से बंधी होती है और वह वर के पीछे चलते हुए राई बिखेरती है। यह सांस्कारिक रस्म वर-वधू को विवाह सूत्र में विधिवत बांध देती है। सप्तपदी तो गृह सूत्रों में सामान्य है, किन्तु कन्यादान नहीं हैं अब हम सरस्वती (वही) की बताई विवाह की प्रतीकात्मकता की चर्चा करेंगे। शास्त्र विवाह को एक पवित्र संस्कार मानते हैं और इसके लिए उनमें धार्मिक अनुष्ठान दिए गए हैं। इसमें दैवीय शक्तियों का आशीर्वाद लिया जाता है। जब वर, वधू को चक्की के पाट पर खड़ा करता है, तो इसका उद्देश्य होता है विवाह को दृढ़ और मजबूत बनाना। इसी तरह, विवाह के सभी संस्कारों और मंत्रों का उपयोग आशीर्वाद प्राप्त करने और एक मजबूत रचनात्मक संबंध बनाने के लिए किया जाता है। मंत्र भी इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। इसके अलावा जैवीय प्रतीक भी होता हैं, जैसे- वधू पर सुरा का छिड़का जाना। इससे वह आकर्षक हो जाती है। यह उर्वरता के लिए किया जाता है। जादुई अनुष्ठानों या तंत्र-मंत्र का उपयोग स्त्री के लिए शारीरिक संपर्क के बाद के समय को सुरक्षित बनाने के उद्देश्य से किया जाता है।

अब हम अंतिम संस्कार पर नजर डालते हैं। मृतक को नहलाने के बाद उसके दर्शन के इच्छुक लोगों के लिए उसे सही स्थान पर रख दिया जाता है। मृतक के चित्र या उसकी किसी व्यक्तिगत वस्तु पर माला डाल दी जाती है और आसपास यदि संभव हो तो अगरबत्तियाँ जला दी जाती हैं।

कहीं-कहीं मृतक के पास मंत्रों का उच्चारण किया जाता है। कहीं-कहीं अंतिम सांस ले रहे व्यक्ति के मुख में तुलसी मिला जल डाला जाता है।

यह बांस की छह फुट लंबी सीढ़ी जैसी होती है जिस पर मृतक को लिटा दिया जाता है। उसके पांवों के अंगूठों को आपस में बांध दिया जाता है। इससे पहले उस पर लाल या

सफेद कपड़ा डाला दिया जाता है। मृत व्यक्ति यदि विवाहित स्त्री है तो लाल कपड़े में लपेटा जाता है। विवाहिता के लिए और भी विशेष संस्कार होते हैं। अन्य सभी के लिए सफेद कपड़े का प्रयोग होता है। मृतक को स्नान कराया जाता है और उसे साफ कपड़े पहनाए जाते हैं। ये पूर्व सांक्रांतिक संस्कार हैं जिनका पालन अंत्येष्टि से पहले होता है। एक मायने में ये ऐसे संस्कार हैं जिनकी भूमिका संस्कार व्यवस्था को बनाए रखना और शव को अर्थी पर पहुंचाना होता है।

बॉक्स 6.1 हिन्दू समाज में अंतिम संस्कार

दाह संस्कार हिन्दुओं में वैदिक काल से आजीवन तक शव को विसर्जित करने का सर्वाधिक मान्य तरीका है। हिन्दू इसे सर्वाधिक परिष्कृत तरीका मानते हैं। इस विश्वास के कुछ कारण हो सकते हैं।

i) खानाबदोष समुदायों को यह सुविधाजनक लगा कि वे अपने बड़े-बूढ़ों का दाह संस्कार कर दें और उनकी कुछ अस्थियां ही अपने साथ लाएं।

ii) भूत से मुक्ति भी एक मुख्य कारण है। मृतक को आग की भेंट कर देने के बाद भूत के रहने का प्रश्न ही नहीं था।

iii) कभी-कभी पूरे के पूरे जगल को भस्म कर देनेवाली आग को देखकर शायद उनके मन में यह विचार आया हो कि मृतकों के लिए भी यह उपयोगी हो सकती है।

iv) प्रारंभिक दौरे में ये ही कारण प्रबल रहे लेकिन बाद में अग्नि से जुड़ी मान-मर्यादा के कारण दाह संस्कार पार्थिव शरीर को विसर्जित करने का अनूठा तरीका बन गया।

मृतक को अर्थी पर लिटा कर उसे रस्सी से बांध देने के बाद उसके निकट संबंधी पुरुष अर्थी को कंधों पर उठा लेते हैं और उसे श्मशान घाट ले जाते हैं। श्मशान भूमि तक अलग-अलग व्यक्ति अर्थी को कंधा देते हैं। वैसे शहरी इलाकों में आमतौर पर शव को शव वाहन पर रख कर श्मशान भूमि तक ले जाते हैं। इसकी अगुआई परिवार का सबसे बड़ा पुरुष मुख्य रूप से मृतक का बेटा करता है।

अर्थी के साथ लोग श्मशान भूमि तक पैदल जाते हैं। वहां शव को नीचे फर्ष पर रखा जाता हैं और लकड़ियों से चिता तैयार की जाती है। इस बीच पुरोहित परलोक में मृतक की बेहतरी के लिए कुछ अनुष्ठान करता हैं। उसके बाद शव को अर्थी से उठा कर चिता पर रखा जाता है और उस पर लकड़ियां रख दी जाती हैं। चिता को हमेशा सबसे बड़ा बेटा ही अग्नि देता है। अगर वह न हो तो फिर मृतक का कोई पुरुष संबंधी चिता जलाता है। मुख्य शोक करने वाले फिर जलती चिता का इस तरह चक्कर लगाते हैं कि उनका दाहिना कंधा चिता की तरफ रहे।

अस्थियों का संचयन दाह संस्कार के एक दिन बाद होता है जब चिता ठंडी हो जाती है। अस्थियों को मिट्टी के भांड़ों में इकट्ठा कर लिया जाता है। फिर इन भांडों को नदी में ले जाकर प्रवाहित कर देते हैं। साधु संतों की अस्थियों और भस्म पर स्मारक बना दिया जाता है जिसे समाधि कहते हैं। मृत्यु के चौथे दिन मृतक की आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना का आयोजन किया जाता है। बाद में वर्ष में एक बार मृतक के लिए प्रार्थना आयोजन होता है। वैसे हमें यह याद रखना चाहिए कि ऐसा भारत में हर कहीं नहीं होता, यह भी स्मरण रखने योग्य बात है कि अंत्येष्टि प्रदूषणकारी होती है, इसलिए शोक करने वाले घर जाकर नहा लेते हैं या इच्छा और सुविधा होने पर श्मशान भूमि में ही नहा लेते हैं। बाद में मृत्यु

भोज का आयोजन भी हो सकता है। अस्थियों का चुना जाना और उनका नदी में विसर्जन सभी उत्तर सांक्रांतिक रीतियां हैं। ये पूर्वजों की दुनिया में मृतक के समावेशन का प्रतीक हैं। इस उत्तर सांक्रांतिक चरण में चौथा (रस्म पगड़ी) और श्राद्ध जैसे संस्कार आते हैं। पंजाबियों में होने वाली ये रस्में उत्तर सांक्रांतिक चरण की ही रीतियां हैं। चौथे की रस्म मृत्यु के चौथे दिन होती है और इसकी समाप्ति पर मृतक के बाद परिवार के सबसे बड़े पुरुष सदस्य को पगड़ी दी जाती है। पगड़ी की इस रस्म में जिस पुरुष को पगड़ी दी जाती है उसे इसके साथ परिवार के मुखिया के अधिकार भी मिल जाते हैं। श्राद्ध की रस्म प्रति वर्ष मृतक की स्मृति में और उसकी आत्मा की शांति के लिए होती है।

6.4.2 सीरियाई ईसाई समुदाय

सीरियाई ईसाइयों में भी जन्म संबंधी संस्कार मुख्यतया समाज में समावेशन के संस्कार होते हैं जो आध्यात्मिक पुण्य और प्रस्थिति अर्जित करने के लिए संपन्न किए जाते हैं। सीरियाई ईसाइयों में पहला बच्चा सामान्यतया माँ के घर ही जन्म लेता है। गर्भवती महिला प्रसव के कुछ महीने पहले ही अपनी माँ के यहाँ चली जाती है।

पुराने समय में गर्भवती युवती की माँ सहित सात महिलाएँ उसे माँ के घर लेकर आती थीं। सीरियाई ईसाइयों में वधू के माँ के यहाँ कुछ समय पहले से लेकर शिशु जन्म के समय तक के अनुष्ठान और रीतियाँ विच्छेद/संक्रांति पूर्व के संस्कार होते हैं। शिशु का जन्म घर की विवाहित महिलाओं की मदद से और किसी आया की देखरेख में होता है। लड़के का जन्म अत्यधिक खुशी का कारण होता है और इस अवसर पर ज़ोर-ज़ोर से सीटियाँ बजाई जाती हैं। बच्चे के जन्म का सही समय लिख लिया जाता है। जिससे उस की सही जन्म कुंडली बनाई जा सके। यह रीति सीरियाई ईसाईयों में हिंदुओं से आई है। और वे भी भविष्यफल को अत्यन्त महत्व देते हैं। प्रारंभ में ताड़ के सुखाए पत्ते पर जन्म कुंडली बनाई जाती थी। इसे छोटी-छोटी पट्टियों पर बनाया जाता है और इन पट्टियों को धागे से जोड़ दिया जाता है। इनको लकड़ी के टुकड़ों के बीच जमा कर रखा जाता है। ताड़ के इन पत्तों पर जन्म कुंडली लिखने का काम धातु की सलाई से किया जाता है। सुन्दर अक्षरों में लिखी जन्मकुंडली पर कभी फूल पत्तियाँ भी समा दी जाती हैं। नवजात शिशु को नहलाया जाता है और उसके बाद घर का कोई सदस्य या पादरी उसके कानों में धीमे से ये शब्द कहता है: ''यीशु खीष्ट प्रभु''। इसके बाद के संस्कार ''दहलीज'' या संक्रांति के बाद संस्कार अर्थात समावेशन/संक्रांति बाद के संस्कार होते हैं।

बच्चे को स्वर्ण युक्त शहद की कुछ बूंदे भी पिलाई जाती हैं। इसके लिए बच्चे की नानी या कोई महिला शहद सने पत्थर पर सोने का कोई आभूषण घिसती हैं। यह प्रथा नंबूदरी जाति के लोगों में भी पाई जाती है और इसका जन्म उद्देश्य समृद्धि की प्राप्ति होता है।

शिशु के जन्म के सात दिन बाद पति के परिवार जन उसे देखने आते हैं। इस बात का ध यान रखा जाता है कि अयुग्मक लोग ही शिशु को देखने जाएँ अर्थात उनकी संख्या जोड़े में नहीं होनी चाहिए, ऐसा माना जाता है कि ऐसे अवसरों पर जोड़ों की संख्या शुभ नहीं होती। शिशु को देखकर उसकी दादी उसके हाथों में सोना रखती है।

इसके बाद गिरजाघर में प्रार्थना सभा और बपतिस्मा या नामकरण की रीति संपन्न की जा सकती है। शिशु के जन्म के लगभग दो महीने बाद पत्नी अपने पति के घर लौट आती है। वह अपने साथ जेवरात, कपड़ों और घर का सामान उपहार के तौर पर लेकर आती है। इन रीतियों का संबंध उत्तर सांक्रांतिकता (postliminality) से पैदा होता है। इनका काम होता है समाज का समाजीकरण करना। उसका नवीकरण करना और संकट का मिलजुल कर. सामना करने के जरिए सदस्यों को एक-दूसरे के और निकट लाना।

बच्चे की औपचारिक शिक्षा हिन्दुओं जैसे-''जनेऊ'' संस्कार के बाद तीन या चार वर्ष की आयु में ही प्रारंभ होती है। इस संस्कार को संपन्न कराने के लिए पादरी धान से भरी एक पीतल की थाली लेकर बच्चे के पास बैठता है। बच्चे की तर्जनी पकड़ कर पादरी उससे धान में ''यीशु'' लिखवाता है। इस अवसर पर एक छोटी-सी प्रार्थना की जाती है और उसके बाद भोज होता है। ऐसा माना जाता है कि बच्चे को ज्ञान के पथ पर दीक्षित कर दिया गया है और अब वह स्कूल जाना प्रांरभ कर सकता है। शिशु यदि लड़की है, तो उसके सात या आठ वर्ष के होने पर उसके कान छेदे जाते हैं, जिससे वह आभूषण पहन सके । पूर्वोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो चुका है कि जन्म के समय संपन्न होने वाले समावेशन के संस्कार विस्तृत होते हैं। जब प्रसव से लगभग तीन महीने पहले बेटी अपनी माँ के यहाँ जाती है, तो यह एक सांस्कारिक कर्म होता है। लेकिन इसके साथ विधिवत सांस्कारिक कार्य संपन्न नहीं होते। इससे पहले सात महिलाएँ गर्भवती युवती को घर लेकर आती हैं। इन और अन्य संस्कारों से यह संकेत मिलता है कि सीरियाई ईसाई पंथ संस्कार की दृष्टि से हिन्दू धर्म से बिल्कुल भिन्न होता है। इनमें कुछ संस्कार तो एक जैसे होते हैं जैसे, समृद्धि की प्राप्ति के लिए बच्चे को स्वर्ण और शहद देना। लेकिन उनमें भी अतिमानवीय शक्तियों को दूर रखने की इच्छा ही प्रकट होती है।

पहले बाल विवाह का केरल में बहुत बोलबाला था। वैसे शारीरिक संपर्क परिपक्व या वयस्क होने पर ही किया जाता था। आजकल विवाह-वयस्क होने पर ही किए जाते हैं। यह भी वांछनीय होता है कि वर कामकाजी हो और वधू कम से कम बीस वर्ष की हो। विवाह की बातचीत के लिए पहल की जिम्मेदारी आमतौर पर वधू के परिवार की होती है। वधू पक्ष के हिसाब से उपयुक्त चुनाव हो जाने के बाद लड़के के परिवार का कोई प्रतिनिधि विवाह तय करने के लिए भेजा जाता है। पहले वर वधू पहली बार गिरजाघर में अपने विवाह के अवसर पर ही मिलते थे।

आजकल, विवाह से पूर्व प्रणय की अनुमति तो नहीं है, लेकिन लड़का और लड़की एक-दूसरे की फोटो ले सकते हैं और बड़ों की निगरानी में मिल सकते हैं और थोड़ी देर के लिए बात भी कर सकते हैं। निगरानी का काम आमतौर पर लड़की की माँ या कोई विवाहित बहन करती है। सीरियाई ईसाइयों में मंगनी या सगाई की रस्म गिरजाघर में पादरी द्वारा विवाह की ''पुकार'' या औपचारिक घोषणा करने के बाद होती हैं। यह रस्म यीशु या यूखरिस्त (Eucharist) के अंतिम भोज की स्मृति में मनाए जाने वाले यूखरिस्त अनुष्ठान के तुरंत बाद होती है। सामान्यता, विवाह के पूर्व होने वाले सभी अनुष्ठान विच्छेद के पूर्वसांक्रांतिक संस्कार होते हैं। पुकार लड़के और लड़की दोनों के गिरजाघरों में पड़ती है। पुकार इसलिए डाली जाती है ताकि अपर किसी को इस विवाह को लेकर कोई आपत्ति हो, तो वह अपना पक्ष प्रस्तुत कर सकता है।

सगाई की दावत लड़की के घर में होती है। इसमें शुरू में मिठाई बाँटी जाती है और फिर भोज होता है। इसी समय दहेज भी दिया जाता है। इसे पिता की ओर से पुत्री को उपहार के रूप में माना जाता था और दहेज का मूल्य लगभग उस रकम के बराबर होता था, जो छोटे बेटों को पिता की मृत्यु के बाद संपत्ति आदि के रूप में मिलनी होती थीं।

विवाह संस्कार दो चरण में पूरा होता है। पहला चरणा होता है सगाई और दूसरा चरण विवाह का विधिवत संपन्न होना। ये दोनों ही सांक्रांतिकता के पक्ष हैं। ये एक प्रस्थिति (अविवाहित) से दूसरी प्रस्थिति (विवाहित) में संक्रमण के क्षण से पहले आते हैं। जब दूल्हा-दुल्हन गिरजाघर में पहुँचते हैं, तो सोने की दो जंजीरें और कपड़ा उसके घूंघट का काम करते हैं । "मिन्नू'' (minnus) या ''ताली'' (tali) को वेदी के सामने एक मेज पर रखा जाता है। दूल्हा-दुल्हन इस मेज के आगे खड़े होते हैं। दूल्हन दूल्हे के दाहिनी ओर खड़ी होती है। पश्चिमी सभ्यता के अनुसार, दुल्हन हमेशा दूल्हे के बांई ओर खड़ी होती है।

प्रार्थना सभा का समापन दोनों अंगुलियों पर आशीर्वाद देकर प्रार्थना करने के साथ होता है। पादरी दूल्हा-दुल्हन को उनकी अनामिका (सबसे छोटी अंगुलि के पास वाली अंगुली) में अंगूठी पहनाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस अंगुलि में एक नस होती है जिसका संबंध हृदय से होता है। यहाँ भी सीरियाई ईसाई पश्चिमी पंथ से मिन्न रहते हैं जिनमें अंगूठी पुरोहित नहीं पहनाता। पश्चिमी पंथ के ईसाइयों में दूल्हा-दुल्हन ही एक-दूसरे को अंगूठी पहनाते हैं।

उसके बाद मुकुटों पर आशीष की रस्म होती है। इसके लिए सलीब (cross) वाली जंजीरों का उपयोग किया जाता है। सोने की जंजीरों को आशीषित (blessed) करने के बाद पादरी दूल्हे की जंजीर को उस पर से तीन बार मुकुट की शक्ल में उठाता है। फिर वह उसे दूल्हे के गाल पर रखता है। दुल्हन की जंजीर से भी वह ऐसा ही करता है। ये जंजीरें आमतौर पर परिवार में पीढ़ी दर पीढ़ी चली जाती हैं और इनका इस्तेमाल ऐसे ही अवसरों पर होता है।

फिर पादरी विवाह की वास्तविक या मूल रस्म अदा करता है। वह ''ताली' को दुल्हन के गले में डालता है और दूल्हा "मिन्नू'' के धागे में गाँठ लगाता है। उसके बाद पादरी एक कपड़ा जो दुल्हन के लिए दूल्हे का उपहार होता है, उसे दुल्हन के सिर पर रखता है और उसके साथ ही विवाह की रस्म समाप्त होती है। मिन्नू या ताली बाँधने की रस्म को नबूंदरी ब्राह्मणों से लिया गया है। पहले ''वेल'' या घूँघट को स्त्री की मृत्यु के बाद उसे लपेटने के लिए प्रयोग किया जाता है।

गिरजाघर में विवाह की रस्म पूरी हो जाने के बाद दूल्हा-दुल्हन बाजे-गाजे के साथ दुल्हन के घर आती हैं, जहाँ पंडाल या शामियाना लगा होता है। विवाह की रस्म पूरी होने के बाद होने वाले संस्कार और बारातियों आदि का दुल्हन के घर आना समावेशन या उत्तरसांक्रांतिक संस्कार होते हैं। द्वार पर युवतियाँ दीप लेकर उनका स्वागत करती है। दूल्हें का साथी उन्हें लेकर अन्दर जाता है। विवाह में शरीक लोग ''चलो, चलो'' चिल्लाते हुए सीटियाँ बजाते हैं। दुल्हन को दहलीज पर से पहले अपना दाहिना पाँव रखना होता है। यह आदर का सूचक भी होता है और शगुन की दृष्टि से भी शुभ होता है। दुल्हा-दुल्हन चावल और फूलों से सजे एक मंच पर बैठते हैं। मेहमानों पर गुलाब जल छिड़का जाता है। विवाह के गीत गाए जाते हैं और भोज शुरू होता है। मेहमानों के जाने से पहले पान, तंबाकू और सुपारी दी जाती है। इस तरह सीरियाई ईसाइयों में विवाह के अनेक संस्कार होते हैं। उनके लिए विवाह में गिरजाघर की महत्वपूर्ण भूमिका होती है और सारे विवाह वहीं संपन्न होते हैं। पश्चिमी ईसाई समाज के विवाहों की तरह उनमें भी अंगूठियों का आदान-प्रदान होता है। वैसे दूल्हा और दुल्हन को पादरी अंगूठी देता है। वे एक दूसरे को अंगूठी नहीं देते। सीरियाई ईसाइयों के इन संस्कारों में सामाजिक नियंत्रण और अस्मिता, व्यवसाय और जीवन शैली के दर्शन होते हैं। हम यह और कहेंगे कि ये संस्कार समाजों में, उनके मूल्यों और मान्यताओं में, अर्थात उनकी ''भावनाओं'' में नए प्राण फूंकने का काम करते है।

सीरियाई ईसाइयों के अंतिम संस्कार में आदर और संजीदगी का भाव देखने को मिलता है। सीरियाई ईसाइयों में अंतिम समय के अनुष्ठान नहीं होते। लेकिन बीमारी के समय कुछ अनुष्ठान अवश्य होते हैं। ऐसे समय में आमतौर पर पादरी रोगी के पास होता है और जब मृत्यु का समय निकट आता है तो प्रार्थना की जाती है। पादरी मरते हुए व्यक्ति के कान में धर्म की बातें कहता है । मृत्यु के समय महिलाएं रोने और छाती पीटने लगती हैं जिससे आस-पड़ोस को मृत्यु होने का पता चल जाता है। घर के चूल्हे बुझा दिए जाते हैं और अंतिम संस्कार होने से पहले किसी तरह का खाना पकाना नहीं किया जाता। मृतक का नहलाने और कपड़े पहनाने के बाद पूर्व की ओर मुंह करके एक कमरे में रख दिया जाता

है। उसके सिरहाने एक सलीब रख दी जाती है और दोनों ओर मोमबत्तियां जला दी जाती है। लोबान सुलगाई जाती है। जब मृतक का पार्थिव शरीर घर में रहता है प्रार्थना और भजन चलते रहते हैं। जब पादरी मरते व्यक्ति के पास होता है स्पष्ट रूप से पर्व सांक्रांतिक संस्कार होते हैं। वैसे मौत हमेशा धीरे-धीरे नहीं आती। व्यक्ति के साथ दुर्घटना भी हो सकती है। ऐसी स्थिति में बाकी के सभी संस्कार ऊपर दिए अनुसार ही लोग अपने आप को मृतक से विच्छेद के लिए और सांक्रांतिक संस्कारों के लिए तैयार कर रहे होते हैं।

पादरी मृतक के पार्थिव शरीर पर तेल का लेप करता है। उसके चेहरे, सीने और घुटनों पर तेल से सलीब का चिह्न बनाया जाता है। फिर शव यात्रा गिरजाघर के लिए कूच करती है जहाँ शव को गाड़ दिया जाता है। केरल में कब्रिस्तान आमतौर पर गिरजाघर के परिसर में ही होते हैं। शव को एक ताबूत में रखा दिया जाता है और फिर उसे कब्रिस्तान ले जाया जाता है। घर की महिलाएं शव यात्रा में शामिल नहीं होती। अंतिम संस्कार के समय होने वाली लंबी प्रार्थना सभा में प्रार्थनाएं और भजन चलते हैं। जब ताबूत को कब्र में उतारा जाता है तो पादरी उस में सलीब की आकृति में मिट्टी डालता है इस बीच प्रार्थना चलती रहती है। सीरियाई ईसाई शव को दफनाते समय उसका सिर पश्चिम की ओर रखते हैं। जिससे उसका मुंह पूर्व की ओर रहे, क्योंकि उसका दृढ़ विश्वास है कि मसीह यरुशलम के पास से आएगा। शव पर तेल का लेप, पादरी का सलीब का चिह्न बनाना और फिर शव को पश्चिम की ओर सिर करके कब्र में गाडना ये सभी सांक्रांतिक संस्कार हैं। शव कब्र में होता है और धीरे-धीरे इसे खाक के सुपुर्द किया जाता है। धीरे-धीरे मृतक का शरीर दिखना बंद हो जाएगा और वह सामाजिक दुनिया का सदस्य नहीं रह जाता। ये संस्कार इस सांक्रांतिक चरण का ही संकेत देते हैं। इस अनुष्ठान से मृतक के इस संसार से लुप्त होने की क्रिया को अमौखिक रूप से व्यक्त किया जाता है।

अत्येष्टि के बाद शोक करने वाले घर लौट आते हैं। वहाँ उन्हें चावल का सादा भोजन दिया जाता है। उसके बाद शुद्धिकरण का एक अनुष्ठान पल्लाकलि किया जाता था। यह रीति नंबूदरी लोगों से ग्रहण की गई थी। दैनिक मजदूरी करने वालों के अतिरिक्त और कोई शोकग्रस्त व्यक्ति मृत्यु के चालीसवें दिन तक कोई कार्य नहीं कर सकता था। उस दिन एक विशेष अनुष्ठान किया जाता था जिसके समाप्त होने पर पादरी प्रत्येक व्यक्ति को अपने हाथ के पिछले हिस्से को चूमने देता है और इस तरह उन्हें आशीर्वाद देता है। इस दिन मांसाहारी भोजन परोसा जाता है और इसके साथ ही औपचारिक शोक या मातम की समाप्ति हो जाती है। मृतक की प्रत्येक पुण्य तिथि पर एक अनुष्ठान किया जाता है। गिरजाघर में एक शांति सभा का आयोजन होता है। कब्र पर एक मोमबत्ती भी जलाई जाती है और जरूरतमंदों को कुछ दान दिया जाता है। यह स्पष्ट है कि उत्तर संक्रांति के संस्कार सीरियाई ईसाइयों में कुछ लबें चलते हैं क्योंकि वे मृत्यु के चालीसवें दिन तक सामाजिक कार्यों में हिस्सा नहीं लेते। तब पादरी आशीर्वाद देता है और उपर्युक्त उल्लिखित कुछ अनुष्ठानों के बाद शोक की अवधि के समाप्त होने की घोषणा करता है।

बोध प्रश्न 2

i) सीरियाई ईसाइयों में अंतिम संस्कार की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

ii) हिन्दुओं में अंतिम संस्कार के समय अस्थियों का संचयन किए जाने के महत्व पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

6.4.3 सिक्ख समुदाय

हिन्दुओं और सीरियाई ईसाइयों की तरह सिक्खों में भी ये संस्कार पारगमन के संस्कार ही होते हैं। अर्थात जन्म से पहले, विच्छेद के संस्कार या पूर्व सांक्रांतिक संस्कार, जन्म के समय या उसके बिल्कुल आसपास के सांक्रांतिक संस्कार और अंत में, नामकरण के संस्कार जो समावेशन या उत्तर सांक्रांतिक संस्कार होते हैं।

सिक्खों में शिशु का जन्म आनन्द का विषय होता है, चाहे वह कन्या हो या बालक-जब माँ प्रसव प्रसूति के बाद स्वस्थ हो जाती है, तो धन्यवाद देने के लिए गुरूद्वारे जाते हैं। वहाँ कड़हा प्रसाद प्राप्ति के लिए कुछ धन दिया जाता है। गाँवों में स्त्रियाँ खुद कड़हा प्रसाद तैयार करती हैं और गुरूद्वारे ले जाती है। एक ''रूमाला'' या एक वर्ग मीटर का रेशमी कपड़ा गुरु ग्रंथ साहिब को अर्पित किया जाता है। गुरुद्वारे में धन्यवाद के ''शब्द'' पढ़े जाते हैं। जिसके बाद परिवार नवजात के लिए ''अमृत'' माँगते हैं। अमृत ''बताशा'' या बताशा घोल कर बनाया जाता है।

''ग्रंथी'' जी (पुरोहित) एक ''खंडा'' (छोटी दुधारी तलवार) से पानी को हिलाते हैं और ''जपुजी साहिब' के पहले पाँच छंदों की विवेचना करते हैं। अमृत रूपी जल को छोटी कृपाण से स्पर्श कराकर बच्चे की जीभ से लगाया जाता है। शेष अमृत माँ चख लेती है। फिर गुरु ग्रंथ साहिब का स्वाभाविक रूप से खोला जाता है और बाएँ पृष्ठ का पहला अक्षर बच्चे के माता-पिता को पढ़कर बताया जाता है। इस अक्षर से बच्चे का नाम तय किया जाता है। ग्रंथीजी ''जो बोले सो निहाल'' कहते हैं और संगत उनके जवाब में ''सत श्री अकाल' बोलती है।

बॉक्स 6.2 नत्य कर्म

सिक्ख के लिए भोर के ताजे पानी में नहाना अनिवार्य होता है। उसके बाद उसे जपुजी साहिब का पाठ करना होता है। उसके साथ उसे गुरू गोबिन्द सिंह के जाप साहिब, उनके सवैयों का भी प्राठ करना होता है। उसे यह पाठ नाश्ते के पहले या बाद में करना होता है। अपना दैनिक कार्य प्रारंभ करने से पहले उसे गुरुद्वारे में गुरुबानी का पाठ करना भी अनिवार्य है। काम के दौरान भी परमेश्वर का विचार उसके मन से नहीं निकलना चाहिए। फिर उसे संध्या के समय ''रहिरास'' और सोने से पहले "सोहिल्ला'' का पाठ करना होता है।

इसके अलावा सामाजिक रिवाज भी होते हैं। संयुक्त परिवार में बच्चे का जन्म पति के घर में होता है। पत्नी के माता-पिता उसे वहीं देखने आते हैं। वे उसके लिए और उसकी सास के लिए उपहार लेकर आते हैं और पति और ससुर के लिए पगड़ी लाते हैं कहीं-कहीं गरीब लोगों के लिए ''लंगर'' या मुफ्त भोजन की व्यवस्था भी की जाती है और विधवाओं को दान

दिया जाता है। सिक्खों के जन्म संबंधी संस्कार भी समावेशन के संस्कार होते हैं। गुरुद्वारे जाने और पत्नी के माता-पिता के अलावा ये सामाजिक अन्योन्यक्रिया के संस्कार भी हैं- ''ग्रंथी' के रूप में ये संस्कार व्यावसायिक पक्ष भी प्रस्तुत करते हैं। इसमें आध्यात्मिक गुण और आध्यात्मिक उन्नति के भी दर्शन होते हैं। यहाँ समाजीकरण के व्यवहार भी स्पष्ट रूप से मौजूद होते हैं। वैसे सिक्ख धर्म मूलतः एक खुले विचारों वाला और आधुनिक धर्म है। यहाँ हम इस बात पर ध्यान दे सकते हैं कि यहाँ गुरू ग्रंथ साहिब का आशीर्वाद लेने की प्रवृत्ति होती है। इसमें बताशों को एक छोटी दुधारी तलवार से पानी में घोला जाता है। फिर बच्चे को उस खांड या छोटी कृपाण से यह ''अमृत'' चखाया जाता है। नामकरण की रीति भी बिना किसी औपचारिकता से की जाती है लेकिन उसका आधार भी मूल रूप से गुरु ग्रंथ साहिब लेते हैं।

विवाह के संदर्भ में, सिक्खों में कुछ मान्यताएँ और नियम हैं। सामान्यतया घर की सबसे बड़ी लड़की का विवाह उसकी छोटी बहन या बहनों के विवाह से पहले होता है। अगर कोई विवाह योग्य लड़का या लड़की ऊंची पढ़ाई में लगा है, तो उसका विवाह उसकी पढ़ाई पूरी हो जाने पर ही किया जाता है। इसके अलावा, अगर परिवार के मुखिया की मृत्यु हो जाती है तो बड़े लड़के का विवाह तब तक नहीं किया जाता जब तक उसके छोटे भाई-बहनों की पढ़ाई पूरी न हो जाए। परिवार के लोग और मित्र मिलकर वर या वधू ढूंढने का काम करते हैं (कोल और सांभी : 1978)। उनमें सद्‌गुणों, स्वभाव और उम्र को देखा जाता है। इसके अलावा सामाजिक प्रस्थिति या हैसियत और आर्थिक प्रस्थिति भी देखी जाती है। अंत में, जाति का भी ध्यान रखा जाता है। इस तरह जाट का विवाह जाट से और रामगढ़िया का विवाह रामगढ़िया से ही होता है। वैसे इसके अपवाद भी मिल जाते हैं। सिक्ख को सिक्ख से ही विवाह करना होता है। गृहस्थ स्थिति में गुरु की शिक्षाओं का सही ढंग से पालन होता है। मिश्रित विवाह आमतौर पर सफल नहीं होते और शहरी-'देहाती अमीर-गरीब और नैतिक-अनैतिक को लेकर टकराव और तनाव की स्थिति बनती है। सिक्ख अपने परिवार के निकट के संबंधियों में या उनमें विवाह नहीं कर सकते ''जिनका नाम चार पुरानी पीढ़ियों में एक सा होता है'' (कोल और सांभी, वही)। विवाह की बात पक्की होने से पहले लड़का और लड़की अनौपचारिक तौर पर मिलते हैं। उनका मिलन परिवार के सयानों के सामने होता है। इससे उन दोनों को एक दूसरे को समझने और वैवाहिक जीवन की संभावनाओं का आकलन करने में मदद मिलती है।

विवाह से पहले सगाई की रस्म अदा की जा सकती है लेकिन यह अनिवार्य नहीं होती। विवाह सामाजिक और धार्मिक अवसर होता है। विवाह का दिन कोई भी हो सकता है। सिक्ख शुभ और अशुभ दिन में विश्वास नहीं करते। वैसे कुछ व्यावहारिक बातों को ध्यान में रखा जाता है। उदाहरण के लिए, मानसून के महीनों में विवाह तय नहीं किया जाता क्योंकि बारिश के कारण विवाह का प्रबंध करने में बाधा आ सकती है। विवाह वधू के गाँव में संपन्न किया जाता है। विवाह किसी घर की चौरस छत पर या किसी बाग में या गुरुद्वारा में किया जाता है। श्री गुरु ग्रंथ साहिब की वहाँ मौजूदगी महत्वपूर्ण मानी जाती है। अब हम पूर्वसांक्रांतिक, सांक्रांतिक और उत्तरसांक्रातिक संस्कारों की चर्चा करेंगे। अब तक आप उनसे परिचित हो चुके होंगे। इस इकाई में उन्हें पहचानने की कोशिश कीजिए।

बारात आमतौर से शाम को जल्दी पहुंच जाती है और दोनों परिवारों की औपचारिक भेंट होती है। 'जब आसा दी वार' शब्दों का गायन होता है, तो दूल्हा आदि ग्रंथ के आगे अपना स्थान ग्रहण कर लेता है। दुल्हन एक सहेली के साथ दूल्हे के बांई ओर बैठ जाती है। एक . छोटा-सा भजन गाया जाता हैं जो आमतौर पर शिक्षा होती है। फिर एक धर्माधिकारी यह समझाता है कि सिक्ख विवाह दो आत्माओं का मिलन होता है, न कि यह सामाजिक

अनुबंध है। यह मनुष्य और परमात्मा के मिलन की तरह होता है। सिक्ख धर्म का उद्देश्य भी यही है। भजन के माध्यम से सीख दी जाती है कि पत्नी को वफादार, विनम्र और पति की आज्ञा मानने वाली होना चाहिए।

वर और वधू श्री गुरु ग्रंथ साहिब के आगे सिर झुकाकर विवाह के प्रति सहमति प्रकट करते हैं। वे बैठ जाते हैं तब वधू का पिता श्री गुरु ग्रंथ साहिब को माला चढ़ाता है। फिर वधू के दुपट्टे को वर के कंधे से लटकने वाले रेशमी गमछे से बाँध दिया जाता है। फिर वर वधू श्री. गुरु ग्रंथ साहिब के फेरे लगाते हैं। वर आगे रहता है और वधू पीछे। इसके साथ गुरु रामदास का छंद गाया जाता है।

इसके बाद वे वापस पूर्वनिर्धारित अपने स्थान पर बैठ जाते हैं और तब दूसरा छंद पढ़ा जाता है। एक बार फिर फेरे होते हैं। इस तरह चार फेरे लगाए जाते हैं। चौथ फेरा पूरा होते ही फूलों की पंखुड़ियाँ बरसाई जाती हैं। अंत में ''आनन्द साहिब'' के पहले पाँच और अंतिम श्लोकों को पढ़ा जाता है। उसके बाद अरदास (प्रार्थना) होती है। फिर गुरु ग्रंथ साहिब का पाठ शुरू किया जाता है और वाणी के रूप में उनकी सीख ग्रहण की जाती है। मौजूद लोगों को कड़ाह प्रसाद बाँटा जाता है। दोपहर बाद बारात वर के गाँव जाती है। यह पूरी क्रिया संस्कार का सांक्रांतिक पक्ष होता है। बारात के वर के गाँव/कस्बे/शहर/निवास स्थान को जाने के साथ समावेशन या उत्तरसांक्रांतिक अवधि शुरू होती है।

यहाँ संस्कार की प्रतीकात्मकता के विषय में कुछ कहना उपयोगी होगा। पहला फेरा गृहस्थ के कर्तव्यों के पालन के लिए होता है। दूसरा फेरा परमात्मा में आस्था के लिए होता है। तीसरा फेरा संसार में विरस्त रहकर परमात्मा से लौ लगाए रखने के लिए होता है। चौथा फेरा और छंद आत्मा के परमात्मा में विलीन हो जाने के लिए होता है। इस तरह सिक्ख धर्म प्रतीकात्मक होता है लेकिन उसमें संस्कार की सरलता और खूबसूरती को बनाए रखा जाता है। सिक्ख विवाह की प्रतीकात्मकता का संबंध सीधे-सीधे श्री गुरु ग्रंथ साहब से होता है। यह उत्सव उस अर्थ में अत्यंत सुंदर और सरल होता है कि इसमें पवित्र ग्रंथ के चार फेरे होते हैं। इन चारों फेरों का एक विशेष महत्व होता है, जो पवित्र ग्रंथ से ही लिया होता है। यहाँ तक की विवाह की सहमति भी वर और वधू दोनों श्री गुरु ग्रंथ साहिब को देते हैं, किसी व्यक्ति को नहीं। समाजीकरण, अमौखिक संवाद, आध्यात्मिक प्रगति, व्यवसाय और उत्कृष्टता की रचना अर्थात ये सभी सिक्खों के इन विवाह संस्कारों में होते हैं।

सिक्खों का मानना है कि गर्म जलवायु वाले स्थानों में अतिम संस्कार जल्द से जल्द कर देना चाहिए। यदि यह मृत्यु के एक दिन बाद हो सके तो अच्छा है। उनमें मृतक का दाह संस्कार ही किया जाता है। शव को जल में विसर्जित करने की भी छूट रहती है और इसे गलत नहीं माना जाता। लेकिन दाह संस्कार की प्रथा पांच सौ वर्षों से चली आ रही है। भस्म को धरती में दबाया जा सकता है। संतों की समाधियों और पवित्र स्थल इसके उदाहरण हैं। वैसे आमतौर पर भस्म को पास की किसी नदी में विसर्जित कर दिया जाता है। सिक्खों में अंत्येष्टि के स्थल पर किसी प्रकार का स्मारक बनाना अच्छा नहीं समझा जाता और उनके गुरुओं ने भी इन बातों के लिए मना किया है। लेकिन हमें ऐसे स्थलों पर गुरूद्वारे नजर आते हैं। इस प्रकार, पूर्व सांक्रांतिक कार्यों को फुर्ती और कुशलता के साथ निपटाया जाता है और अंत्येष्टि के लिए दाह संस्कार को ही अपनाया जाता है। ' .

सिक्खों में दाह संस्कार के समय मृतक का पूरा परिवार मौजूद रहता है, जबकि हिंदुओं में परिवार की महिलाएं घर पर ही रह जाती हैं, मृतक को स्नान कराया जाता है और यह सुनिश्चित किया जाता है कि उसे सिक्ख पंथ के पांच चिह्नों- कृपाण, कच्छा, कंघा, कड़ा, और केष-से सज्जित कर लिया गया है। शव को एक अर्थी पर शव यात्रा के साथ श्मशान

भूमि तक ले जाया जाता है। शोक करने वाले भजन गाते हैं। चिता को अग्नि देने का काम मृतक का कोई घनिष्ठ पुरुष रिश्तेदार करता है और दाह संस्कार के दौरान संध्याकालीन भजन गाया जाता है। इस अवसर पर अरदास और प्रार्थना भी की जाती है।

शोक करने वाले जब घर लौटते है तो वे हाथ मुंह अवश्य धोते हैं। अनेक तो नहाते भी हैं। श्री गुरु ग्रंथ साहिब का आद्योपांत पाठ शुरू किया जाता है जो अगले दस दिनों तक चलता रहता है। श्री गुरु ग्रंथ साहिब का पाठ एक-एक घंटे होता है और बीच-बीच में अंतराल रहता है। इस तरह पूरा ग्रंथ पढ़ लिए जाने तक पाठ चलता रहता है। पूर्व साक्रांतिक रीतियों में शव को तैयार करना और वस्त्र पहनाना भी शामिल होता है। लेकिन चिता जलाने के साथ सांक्रांतिक अनुष्ठान आते हैं। उसके बाद उत्तर सांक्रांतिक अनुष्ठान शुरू होते हैं और शोक करने वालों के घर पहुंच कर नहाने, धोने और उपरोक्त अनुसार दस दिन तक श्री गुरु ग्रंथ साहिब का पाठ होने तक ये भी चलते रहते हैं। श्री गुरु ग्रंथ साहिब का पाठ करने वाले इन अनुष्ठानों में संस्कार के व्यावसायिक पहलू का बोध कराते हैं और इन अनुष्ठानों से संस्कार के जीवन का अंग होने का भी बोध होता है क्योंकि इनसे यह संकेत मिलता है कि जहां जीवन है वहां मृत्यु भी होगी।

सिक्खों के संस्कारों में एक सामाजिक प्रथा का गहरा सांस्कृतिक महत्व है और यह प्रथा है कड़ाह प्रसाद बांटना। शोक करने वालों को कड़ाह प्रसाद दिया जाता है। सामूहिक भोज का गहरा अर्थ होता है और यह सामाजिक जीवन की निरंतरता के महत्व को उस समय रेखांकित करता है जब इस जीवन को मृत्यु के हाथों ने छिन्न-भिन्न कर दिया होता है। जीवन में आस्था की यह पुष्टि एकान्तवास में जाने, उपवास करने और अन्य रीतियों से शोक करने से कितनी अलग है। कड़ाह प्रसाद का वितरण भी एक उत्तर सांक्रांतिक संस्कार है और यह इस बात का बोध कराता है कि सांक्रांतिक चरण का अंत हो चुका है। यह समाज की दिशा परिवर्तन करने वाला संस्कार भी है क्योंकि यह प्रसाद संस्कार में मौजूद लोगों को दिया जाता है।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि सिक्ख जन्म अच्छे कर्मों का फल होता है। इससे व्यक्ति गुरबानी के संपर्क में आता है और इस प्रकार वह मोक्ष की तलाश करता है, मरणासन्न व्यक्ति को भी गुरबानी पढ़ कर सुनाई जाती है, जिसका संदेश यह है कि नाम सबसे मूल्यवान संपत्ति है और जो लोग इस का जाप नहीं करते वे अपने किए पर पछताएंगे।

6.4.4 मुस्लिम समुदाय

मुस्लिम समाज का इस बात पर ज़ोर है कि समानता के सिद्धांत को उनके दिन-प्रतिदिन के जीवन में ढाला जाये। मुसलमानों में एक साथ नमाज़ पढ़ी जाती और अक्स पढ़ने पर एक साथ खाने-पीने में कोई प्रतिबन्ध नहीं माना जाता। यह भी कहा गया है कि उनके बीच अंतर्जातीय विवाह में भी कोई औपचारिक प्रतिबंध नहीं है और वास्तव में, इस्लाम इसे बढ़ावा ही देता है। इस धर्म में अंतर्जातीय पदक्रम की भावना को भी अस्वीकार किया है।

इस्लाम का अर्थ है अल्लाह की इच्छा के प्रति समर्पण या स्वीकृति। पूर्णतया कुरान के अध्ययन और सुन्नाह (पैगंबर मुहम्मद के कार्य और उपदेश) में इस विचार का पूरा स्पष्टीकरण पाया जाता है। इस्लाम एक अद्वैतवादी धर्म है, जिसका विश्वास है कि अल्लाह (भगवान) एक है जो सम्पूर्ण सृष्टि और काल का रचयिता है, उसका कानून सभी पर लागू होता हैं। कुरान अल्लाह के शब्द हैं जो उसके पैगंबर के माध्यम से मनुष्यों तक पहुँचाए गए हैं। मानव मात्र को सही रास्ते पर चलाने के लिए अल्लाह के पैगंबर मुहम्मद ने उनका उपदेश दिया है। मुस्लिमों का विश्वास है कि "क़यामत" का एक दिन होगा जब अल्लाह

सारे मनुष्यों के अच्छे-बुरे कामों का निर्णय करेंगे। उस निर्णय के दिन जिन्होंने अच्छे कार्य किए हैं वे पुरस्कृत होंगे और जिन्होंने बुरे कार्य किए हैं, उन्हें सजा मिलेगी।

इस्लाम के मुख्य स्तम्भ हैं प्रार्थना, उपवास, मक्का की तीर्थयात्रा, वे कार्य करना जिनका निर्देश दिया गया है और उनसे बचना जो मना किए गए हैं। अल्लाह द्वारा बनाए गए रास्ते पर चलने के लिए अपनी सामर्थ्य भर जिहाद या जी-जान से चेष्टा करना बताया गया है। व्यवहार के सामाजिक नियमों में सारे मनुष्यों में समानता और भ्रातृत्व के सिद्धांत और निजी श्रम द्वारा जीविकोपार्जन आते हैं। सभी विश्वासों और व्यवहारों को समग्र रूप से शरिया (Shariah) कहा जाता है (गजेटियर ऑफ इंडिया 1965: 468-469)।

प्रत्येक धार्मिक समुदाय में जीवनचक्रीय अनुष्ठान और सामाजिक जीवन के महत्पूर्ण तत्व हैं। यह अन्य प्रकार्यों के अतिरिक्त धर्म में से व्यक्ति की आस्था दृढ़ करते हैं। मुस्लिम समुदाय में जन्म, विवाह और मृत्यु आदि के समय कुछ महत्वपूर्ण अनुष्ठान किए जाते हैं। इनमें महत्वपूर्ण हैं (i) बच्चे का नामकरण, (ii) हज्जाम द्वारा या अस्पताल में सुन्नत करवाना, (iii) बिस्मिल्लाह अनुष्ठान, जो बच्चे द्वारा पहली बार कुरान पढ़ने के समय किया जाता है। इन सभी अवसरों पर भोज देना तथा खुशी मनाना न केवल आस्थावान घर-परिवारों में सामाजिक एकता लाते हैं बल्कि विभिन्न सामाजिक-धार्मिक पृष्ठभूमि वाल लोगों को एक दूसरे से मिलने और जानने का अवसर भी देते हैं।

इस्लाम ने मुस्लिम समाज में व्यवहार के सैद्धांतिक आधारों की नींव डाली है, इसलिए इसके दृष्टिकोण से विवाह की संस्था को देखने से हमें मुस्लिम सामाजिक संगठन की स्पष्ट रूपरेखा मिलेगी।

मुस्लिम समाज में विवाह को अरबी शब्द ''निकाह'' के नाम से जाना यह एक प्रकार का समझौता होता है और इसे जन्म-जन्मांतर के लिए तय किया गया धार्मिक अनुष्ठान नहीं समझा जाता है। परन्तु विवाह करना एक अनिवार्य काम समझा जाता है। मुस्लिम कानून कहता है कि निकाह मुख्य उद्देश्य है बच्चों की उत्पत्ति और उन्हें समाज में वैध स्थान देना। मुस्लिम विवाह के आवश्यक तत्व हैं (अ) विवाह प्रस्ताव जो वर तथा वधू के पक्षों या उनके नाम पर किया जाता है, (ब) प्रस्ताव को एक या दो पुरुष और दो महिलाओं की गवाही पर स्वीकार किया जाता है, (स) दहेज या मेहर का बंदोबस्त किया जाता है।

विवाह की तैयारी का उत्तरादायित्व माता-पिता. विशेष रूप से पिता पर होता है। पहले जमाने म वर या वधू का जीवन-साथी के चयन में कोई हाथ नहीं होता था। महिलाओं की दृष्टि से यह बात और अधिक रूप से पाई जाती थी। समय के साथ-साथ मुस्लिम समुदाय के पुरुष सदस्यों ने अपने जीवन साथी के चुनाव में कुछ स्वतंत्रता पा ली है। लेकिन महिलाओं की दृष्टि से इस स्थिति में अभी तक विशेष परिवर्तन नहीं आया है।

इस्लामी कानून में विवाह के समय कोई विशेष आयु निश्चित नहीं की गई है। केवल यह शर्त है कि एक अल्पवयस्क लड़की विवाह के बाद पति के घर नहीं जा सकती है। यद्यपि छोटी लड़की का विवाह हो सकता है लेकिन लड़की अपने पति के घर तभी जाती है जब वह वयस्क हो जाती है। यह व्यवस्था किसी उम्र विशेष से संबंधित नहीं है बल्कि यौवन ग्रहण करने से है। बाल विवाह अवरोध अधिनियमों के बावजूद मुस्लिम समुदायों में बाल विवाह अभी भी विद्यमान है।

मुस्लिम विवाह, जिसे ''निकाह'' कहा जाता है, काजी द्वारा सम्पन्न कराया जाता है। यह परम्पर है कि इसमें कुरान के दोह पढ़ते हुए अल्लाह से नये जोड़े के लिए आशीर्वाद माँगे जाते हैं। विवाह के लिए वर तथा वधू, दोनों की अनुमति ली जाती है। विवाह के अंत में

एक औपचारिक दस्तावेज तैयार किया जाता है, जिसे ''निकाहनामा'' कहा जाता है। अन्य मुद्दों के अलावा ''निकाहानामा'' में मेहर की चर्चा भी होती. है। मेहर विशेष रकम या सम्पत्ति है जो वर द्वारा विवाह के लिए वधू को दी जाती है। यह एक प्रकार से औरतों की सुरक्षा की गारंटी है। मेहर एक ऐसी आवश्यक प्रथा है जिसके बिना कोई भी मुस्लिम विवाह सामाजिक और कानूनी वैधता प्राप्त नहीं कर सकता है। मेहर में कोई निश्चित रकम या सम्पत्ति नहीं दी जाती है। मेहर हर परिवार की सामाजिक और आर्थिक स्थिति के अनुसार तय की जाती है। इसे देने का तरीका भी भांति-भांति का होता है। यह या तो विवाह के तुरन्त बाद दिया जा सकता है या भविष्य निश्चित तारीख तक के लिए स्थगित किया जा सकता है।

इस्लामी कानून दहेज की कहीं चर्चा नहीं करता है। लेकिन वास्तव में यह प्रथा सामान्य व्यवहार का अंग बन गई है। दूसरी ओर, मेहर की राशि अब एक प्रतीकात्मक महत्व भर बन कर रह गई है। सामान्यतया, यह दहेज से कई गुना कम होती है। दहेज बहुत से लड़कियों के माता-पिता विवाह के समय वर-पक्ष को देते हैं। इस प्रकार, मेहर एक अनुष्ठानिक विधि की तरह रह गई है और दहेज की बढ़ती प्रथा ने मुस्लिम महिलाओं की प्रस्थिति और उनके विवाह के भावी रूप पर विपरीत प्रभाव डाला है।

बहु-पत्नी विवाह मुस्लिम विवाह से जुड़ी एक महत्वपूर्ण विशेषता है। इस्लाम एक मुस्लिम पुरुष को एक साथ चार पत्नी की आज्ञा देता है, यदि वह पुरुष सभी के साथ समान और उचित व्यवहार करने योग्य हो। भारत में बहु-पत्नी विवाह का प्रचलन मुस्लिम शासनकाल में काफी लोकप्रिय हुआ। आजकल इस प्रकार के विवाह कम प्रचलित हैं। शहरी और शिक्षित मुस्लिम परिवारों में इस प्रथा का काफी ह्रास हुआ है।

इस्लाम चचेरे, मौसेरे, ममेरे, फुफेरे भाई-बहनों के बीच विवाह को मान्यता देता है। पिता के भाई की पुत्री के साथ विवाह को मुख्य वरीयता दी जाती है। अन्य समुदायों के व्यक्तियों के साथ विवाह के विषय में मुहम्मद के कानून द्वारा कुछ प्रतिबंध लगाए गए हैं। एक मुस्लिम महिला "किताबियान'' या गैर मुस्लिम से विवाह नहीं कर सकती है। लेकिन पुरुष "किताबिया'' महिला से विवाह कर सकता हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट कर दें कि "किताबिया (न)'' वह व्यक्ति होता है .जो धार्मिक ग्रंथ या किताब (कुरान के अलावा) में विश्वास करता है लेकिन "प्रतिमा'' और ''अग्नि'' पूजा में शामिल नहीं होता है।

मुस्लिम निजी कानून (personal law) के अंतर्गत, पति को तलाक के मामले में असीमित स्वतंत्रता है। वह अपनी इच्छा से बिना कोई आवश्यकता और कारण बताए अपनी पत्नी को तलाक दे सकता है। दूसरी ओर, महिला को इतनी स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। यह परम्परा महिला पर पर की प्रभुता और शक्ति का परिणाम है। पैगंबर ने महिलाओं को कुछ कारणों के बाद पर अलग होने का अधिकार दिया है।

तलाक के तुरन्त बाद महिला दूसरा विवाह करने के लिए स्वतंत्र नहीं है। दूसरा विवाह करने से पूर्व एक निश्चित अवधि तक उसे प्रतीक्षा करनी होती है। यह अवधि ''इद्दत'' कहलाती है। वास्तव में, इस्लामी परम्परा में तलाक सबसे अधिक घृणास्पद बात समझी जाती है। भारत में मुस्लिम विवाह अधिनियम, 1939 भंग होने के साथ-साथ मुस्लिम महिला को कुछ आधारों के अंतर्गत अपने पति को तलाक देने का अधिकार है। लेकिन तलाक के मामले में पुरूष को अभी भी एक महिला की तुलना में अधिक अधिकार प्राप्त हैं।

कुरान और इस्लामी परम्परा विधवा विवाह का पक्ष लेते हैं। विधवा के विवाह का उत्तरदायित्व उसके माता-पिता पर होता है। यद्यपि विधवा विवाह की बात का समर्थन किया

गया है, परन्तु हाल के समय में इस तरह के विवाह को सामाजिक-सांस्कृतिक विचार के आधार पर रोका जाता है।

6.4.5 कोरकु समुदाय

कोरकू एक जनजाति है जिसके सदस्य बिंध्य की पहाड़ियों में रहते हैं: वे इन पहाड़ियों के कई हिस्सों में फैले हुए हैं वे एक ही जनजाति के अलग-अलग समूहों में रहते हैं। यहाँ हम उनमें प्रचलित जन्म के संस्कारों की चर्चा करेंगे।

कोरकूओं में शिशु का जन्म बरामदे के एक कोने में होता है, जो प्रवेश द्वार या रसोई से काफी दूर होता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि जन्म की क्रिया सांस्कारिक दृष्टि से अशुद्ध होती है और भोजन को प्रदूषित करती है। जन्म प्रवेश द्वार से दूर ही होना चाहिए, जिससे लोगों की बुरी नजर न लगे। प्रसव के लिए कोरकू स्त्री जमीन पर बैठ या लेट जाती है और दाई नितम्बों से नीचे की ओर मालिश करती है। प्रसव यदि असामान्य होता है, तो स्त्री की आँखों के आगे एक धागा सुलझाया जाता है या किसी जादूगर (ओझा) को बुलाया जाता है। ओंझा पानी से एक औषधि तैयार करता है, जिसे गर्भवती स्त्री को पिलाया जाता है। अगर यह उपाय भी कारगर नहीं होता, तो ओझा समाधि लगाता है। उसकी पूज्य देवी/देवता उसे बताता है कि कैसे क्या होना है। फिर भेंट चढ़ाई जाती है। कभी-कभी बकरे की बलि दी जाती है। स्त्री को एक जादुई धागा बाँधा जाता है। बलि चढ़ाने का काम शिशु के जन्म के बाद किया जाता है।

शिशु का जन्म होने के बाद दाई उसकी नाल को एक कपड़े से बाँध देती है और उसे चाकू या बाँस की खपची से काट देती है। घाव पर हल्दी लगा दी जाती है। खेड़ी या पुरइन को बरामदे के एक कोने में गाड़ दिया जाता है। माँ और बच्चे को घर के एक कोने में चादरों के पीछे रखा जाता है जिससे उन्हें बुरी नजर न लगे। माँ चार-पाँच दिनों तक ठोस खाना नहीं खाती। उसे पतली माँड दी जाती है। नवजात शिशु को तीसरे दिन जाकर ही दूध पिलाया जाता है। पहले दो दिनों में उसे छाछ चखाई जाती है। माँ और शिशु कोई बारह दिनों तक सांस्कृतिक दृष्टि से अशुद्ध रहते हैं। फिर माँ को शुद्धि के लिए स्नान करना होता है। यहाँ यह बात फिर स्पष्ट होती है कि संस्कार समावेशन के संस्कार होते हैं। ये शिशु का समाजीकरण करते है। कोरकुओं में जन्म के इस संक्षिप्त विवरण में हम उनके संस्कारों में हिन्दुत्व के प्रभाव को स्पष्ट देख सकते हैं। शिशु जन्म के समय प्रदूषण की अवधारणा और फिर शुद्धीकरण दोनों ही स्पष्ट रूप से हिन्द अवधारणाएँ हैं। वैसे जनजातीय दृष्टिकोण की मौलिकता यहाँ बरकरार है। यह असामान्य प्रसूति के समय गर्भवती स्त्री की आँखों के आगे धागे सुलझाने में परिलक्षित होती है। इसके अलावा, मासिक धर्म के दौरान स्त्री को अलग रखा जाता है। ये सब समावेशन के संस्कार हैं। इन सब में अमौखिक संवाद और उपचार के रूप में संस्कार के तत्व होते हैं। .

स्टीफन फुक्स (फुक्स,1988: 237-281) के अनुसार कोरकू लोगों में गाँव से बाहर और गोत्र से बाहर विवाह की परंपरा है। विवाह परिचित गोत्रों में भी नहीं हो सकता। एक कुटुम्ब के रिश्ते के भाई-बहनों में भी विवाह वर्जित है। अधिकांश विवाह परिवारजनों के तय किए हुए होते हैं। वैसे प्रेम विवाह की भी संभावना रहती है। विवाह तय करते समय आर्थिक पृष्ठभूमि और समान सामाजिक स्तर का अवश्य ध्यान रखा जाता है।

कोरकू लोग संयुक्त परिवारों में रहते हैं और इसका यह अर्थ होता है कि विवाह से इस संस्था पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। विवाह के पहले वर्ष में नव विवाहिता अपना समय मुख्य रूप से अपनी सास और ननद के साथ बिताती है।

विवाह तय करने की पहल लड़के के माता-पिता करते हैं। जब हर दृष्टि से उपयुक्त लड़की मिल जाती है तो उसके माता-पिता से संपर्क किया जाता है। आमतौर पर इस मामले में लड़के और लड़की की सलाह नहीं ली जाती। सारे प्रेम संबंधों और लगाव के खुले प्रदर्शन को शर्मनाक माना जाता है। इस तरह के मामलों में वधू की कीमत में भारी कमी हो जाती है और घर के सयाने इस तरह के विवाह में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं लेते। इस तरह से लड़का और लड़की तलाशने का काम मुख्य रूप से माता-पिता का ही होता है। लेकिन आजकल कोई भी लड़का अपनी इच्छा के विरूद्ध शायद ही विवाह करता होगा। सभी कोरकुओं में एक जैसे संस्कार नहीं होते। तोडा और अंडमान द्वीपवासी इसका उदाहरण हैं। इसी तरह नीमड़ के कोरकुओं और मेलघाट और मध्य भारत के कोरकुआ में भी अंतर होता है। नीमड़ के कोरकुओं में सगाई का दिन शुक्रवार होता है। लड़की का पिता और कोई ग्रामवासी वधू की कीमत लेता है। इन सभी को हम पूर्वसांक्रातिक रिवाज मान सकते हैं।

एक बैल या बछड़े की कीमत देनी होती है। लडकी के पिता को दिया गया बैल वर की मत्यु हो जाने की स्थिति में लौटा देना होता है। बैल के दान का प्रतीकात्मक महत्व होता है। इससे दोनों परिवारों की मित्रता पर मुहर लग जाती है। विवाह के संस्कार कई दिन तक चलते हैं।

विवाह मंडप (The Wedding shed): विवाह मंडप वर के गाँव में सोमवार को और वधू के गाँव में मंगलवार को बनाया जाता हैं। युवक लोग 12 सलाई वृक्ष कटाते हैं। उन्हें वधू या वर की माँ को दिया जाता है। उसके हाथों में एक थाली होती हैं जिसमें कच्चे चावल, ''कुमकुम'' और तेल होता है। वह आरती की मुद्रा में थाली को घुमाती है और एक पंक्ति में खड़े युवकों के माथे पर इनका तिलक लगाती है। उसके बाद विवाह मंडप बनाया जाता है। यह स्पष्ट रूप से एक पूर्वसांक्रांतिक प्रथा होती है जो विच्छेद की अवस्था के महत्व को रेखांकित करती है। जैसा कि हम देखेंगे, ये संस्कार कोरकुओं में अत्यधिक विस्तृत होते हैं।

बॉक्स 6.3 कोरकु जनजाति

कोरकू जनजाति के लोग मध्य भारत में सतपुड़ा की पहाड़ियों में मिलते हैं विशेषकर वे उसके आसपास की महादेव पहाड़ी में रहते हैं। ये पहाड़ियाँ कोई 2000 फुट ऊँची हैं ओर पठारों में फैली हैं। कोरकू सतपुड़ा की पहाड़ियों के मध्य भाग में, महादेव की पहाड़ी में ओर पूर्वी हिस्सों में रहते हैं। वे खेतिहर होते हैं। इस क्षेत्र पर विभिन्न राजनीतिक शक्तियों का राज्य रहा है और फिर कोरकुओं का हिंदूकरण हो गया। यहाँ हिन्दूकरण से हमारा आशय उस प्रक्रिया से है, जिसके तहत हिन्दुओं की धार्मिक रीतियों और संस्कारों को कोरकू लोगों ने अपनाया।

विवाह मंडप बनाए जाने के बाद वाली शाम को वर को स्नान कराया जाता है और पितरों को भेंट चढ़ाई जाती है। भेंट में विभिन्न किस्म के अनाज और मुर्गे को लिया जाता है। ये भेटें पितरों के ''मध्य स्तंभ'' पर चढ़ाई जाती है। यह स्तंभ गाँव के बीच में होता है। वर केवल इस पर निगाह डालता है। स्त्रियाँ एक घेरे में बैठकर विवाह के गीत गाती हैं। इसके बाद स्त्रियाँ वर को हल्दी लगाती हैं। रात्रि को नाचगाना और भोज होता है।

गाँव का ओझा एक मुर्गे की भेंट चढ़ाता है और देवता से युवा जोड़े के लिए प्रार्थना करता है। बारात फिर वधू के गाँव जाने को तैयार होती है। बारात में वर के साथ उसके रिश्तेदार स्त्री-पुरुष होते हैं। लेकिन वर की माँ को गाँव में ही रहना होता है। बारात शाम को पाँच बजे के आसपास वधू के गाँव में पहुँचती है।

वधू के गाँव में संपन्न होने वाले संस्कार (Ceremony of the Bride's village): वर की वैवाहिक पोशाक धोती, कमीज और नई पगड़ी होती है। उसे खंजर भी दिया जाता है जिसके नोक में एक नीबू टँगा होता है यह खँजर दुष्टात्माओं से रक्षा का प्रतीक होता है। फिर टनटनाती घंटियों के साथ बारात आगे बढ़ती है। रवाना होने से कुछ ही पहले आँगन में एक कंबल फैला दिया जाता है। वर अपनी भाभी को सात बार गले लगाता है। शायद यह पुराने समय में कई भाइयों के बीच एक पत्नी की प्रथा के अवशेष का प्रतीक है।

विवाह मंडप पर कपड़ा तान दिया जाता है। घर के प्रवेश द्वार के सामने दो जादुई चौक बनाए जाते हैं। इनमें से एक चौक में वर बैठता है। इसमें हमें संस्कार के साक्रांतिक पक्ष के दर्शन होते हैं।

अब सजी-संवरी वधू को विवाह संस्कार संपन्न कराने के स्थान पर लाया जाता है। उसे उसका मामा अपनी पीठ पर बच्चों की तरह लादकर लाता है। वर को भी इसी प्रकार उसका मामा ही लेकर आता है। इस तरह दोनों को लेकर आँगन के तीन चक्कर लगाए जाते है। इस दौरान वर और वधू दोनों एक-दूसरे पर चावल और बाजरा फेंकते हैं। वे हल्दी भी फेंकते हैं। दोनों को मंडप के सामने बने चौक पर बिठा दिया जाता है। दोनों एक चादर डाल दी जाती है और उन पर पानी डाला जाता है। वर एक मोतियों की माला वधू को पहनाता है। वधू के लहंगे के छोर को वर की धोती या कंधे पर पड़े गमछे से गाँठ लगा कर बाँध दिया जाता है।

उसके बाद वर-वधू दोनों उठ कर मुतुआ देव की प्रतिमा तक जाते हैं। वहाँ पुरोहित भेंट चढ़ाता है। नीमड़ के कोरकुओं में वधू अपने दाहिने हाथ की कनिश्ठका (सबसे छोटी अंगुली) से वर की कनीष्ठिका को पकड़ती है। वे दोनों चारों ओर मध्य स्तंभ के पाँच फेरे लगाते हैं। अब वे औपचारिक रूप से विवाहित होते हैं। इसके बाद दोनों को अलग-अलग कर दिया जाता है और उन्हें दो चौकों पर अगल-बगल बिठा दिया जाता है। एक बार फिर वर की धोती को वधू के लहंगे से बाँध दिया जाता है। इसके बाद के संस्कार होंगे कि अब संक्रांति के चरण को पार किया जा चुका है। हम देखते हैं कि नीमड़ के कोरकुओं की प्रथाओं और संस्कारों में समाजीकरण, अमौखिक संवाद और उपचार के संस्कार शामिल रहते हैं। वास्तव में उनके विवाह संस्कार में भोज और नाटकीयता की प्रचुरता होती है। वैसे हिन्दुओं के विवाह के औपचारिक वातावरण, सीरियाई ईसाइयों के विवाह की भव्यता और सिक्खों के विवाह की सुंदरता और सुरुचिसंपन्नता के विपरीत कोरकुओं के विवाह में भोज, रंग और संगीत की विविधता होती है। लेकिन इससे उसकी गंभीर प्रकृति नष्ट नहीं होती।

कोरकू आदिवासियों में जब किसी व्यक्ति की मृत्यु निकट आती है तो उसे चावल का पानी या सादा पानी पीने को दिया जाता है। अगर वह व्यक्ति पानी को गटक नहीं पाता तो मान लिया जाता है कि उसकी मृत्यु निकट है। तब उसे जमीन पर लिटा दिया जाता है। अगर किसी कोरक की मृत्य पलंग पर होती है तो उस पलंग का हमेशा के लिए त्याग कर दिया जाता है। उस पलंग पर कोई भी व्यक्ति इस डर से नहीं सोता कि मृतक की आत्मा आकर उसे परेशान करेगी।

कोरकू लोग कुल में होने वाली प्रत्येक मृत्यु पर शोक करते हैं। स्त्रियां सिर और छाती पीटती हैं, व चीत्कार करती हैं। चीत्कार करते हुए वे जो कुछ बोलती हैं उसमें वे मृतक के साथ जाने की इच्छा व्यक्त करती हैं। पुरुष बांस के लट्ठों और सात आड़े डंडों की मदद से अर्थी तैयार करते हैं। मृतक के शरीर से सारे वस्त्र और गहने उतार लिए जाते हैं। मृतक अगर पुरुष है तो उसे सफेद चादर में लपेटा जाता है। विवाहित स्त्री के शव को लाल चादर में और विधवा के शव को सफेद चादर में लपेटते हैं।

जिस स्त्री का पति मरता है वह विलाप करती है और अपने सारे गहने उतार देती है। दूसरी ओर पुरुष अपनी पत्नी के मरने पर ऐसा कुछ नहीं करता। वह बस अपनी पत्नी के शव के पास बैठ कर शोक करता है। कोरकू विधवा अपने पति की मृत्यु के दस दिन बाद गहने पहन सकती है। ये सभी अंतिम संस्कार के पूर्व सांक्रांतिक पहलू हैं। और जहां तक शोक में छाती पीटने का सवाल है, कोरकू और सीरियाई ईसाई एक जैसे होते हैं। कोरकुओं की तरह हिंदुओं में भी स्त्रियां विधवा हो जाने पर अपने गहने उतार देती है।

अंतिम संस्कार की सारी तैयारियां हो जाने के बाद शव यात्रा शुरू होती है। मृतक का सब से बड़ा बेटा चावल के पानी से भरी एक हंडिया लेकर चलता है। अगर सबसे बड़ा बेटा किसी कारणों से न हो तो उसकी जगह उस किसी कारणों से न हो तो उसकी जगह उसका कोई छोटा या कोई घनिष्ठ रिश्तेदार यह कार्य करता है। कनिस्तान की आपदरी तय हो जाने पर शव यात्रा में शामिल लोग एक जात है। यहां अर्थी को जमीन पर दिया जाता है और शव को कंधा देने वाले बाएं से दाहिने आ जाते हैं। स्त्रियां शव यात्रा में शामिल नहीं होती क्योंकि उनके रोने धोने से विष्ण पड़ता है। कोरकुओं के गांवों में उनके अपने कब्रिस्तान होते है जहां कओं को बेतरतीब ढंग से खोद दिया जाता है और वहां ऐसे टीले देखने को मिलते हैं जिनके ऊपर पत्थरों और कांटों का ढेर होता है।

कब्रिस्तान में तीन-चार फुट का एक गड्ढा उत्तर-दक्षिण दिशा में खोदा जाता है। मृतक का चेहरा उत्तर की ओर रखा जाता गड्ढे के दक्षिणी सिरे पर मृतक का सिरहाना होता है जहां पहले गोबर और पत्ते रख दिए जाने शव को कब्र में उतारने से पहले उसमें तांबे के कुछ सिक्के फेंके जाते है। कब्र के चारों और आटा और हल्दी छिड़कते हैं। शव का पीठ के बल इस तरह कब्र में रखते कि उस का चेहरा उत्तर की ओर रहे। कभी-कभी मृतक के मुंह में एक सिक्का रख दिया जाता है जिससे वह परलोक में उसे काम में ला सके। कब्र को आध ा कीचड़ में भर दिया जाता है और फिर उस पर कांटों की तह लगा दी जाती है। फिर उसे मिट्टी से भर दिया जाता है। मिट्टी छिदरी होती है और उसे कूटा नहीं जाता क्योंकि इससे मृतक को चोट पहुंच सकती है। कोरकुओं का यह विश्वास है कि जब मृतक फिर से जन्म लेगा तो मिट्टी कटने के निशान उसके शरीर पर होंगे, कब्र में कांटे और पत्थर इसलिए डाले जाते हैं ताकि जंगली जानवर शव को खा न जाएं। अक्सर शव के साथ सिक्का, बाँसुरी या कोई और वस्तु गाड़ दी जाती है। चावल के पानी वाली हंडिया को कब्र के सिरहाने फोड़ दिया जाता है। ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि अगर मृतक को परलोक में एकाएक कुछ खाने को न मिले तो वह इसे खा कर अपना काम चला ले। जहाँ तक हमारी समझ में आता है कि ये संस्कार सामाजिक संसार से विच्छेद और दूसरे में समावेशन के संस्कार हैं। ये पारगमन के संस्कार है।

ये सभी अनुष्ठान मृतक से विच्छेद के समय उसके प्रति स्नेह की अभिव्यक्ति भी हैं। वह इसे अपना दायित्व मानते हैं कि वे मृतक को जहाँ तक हो सके अच्छे ढंग से विदा दें। सांक्रांतिक प्रथाएं ऐसी होती हैं कि वे उनमें शामिल होने वाले सभी व्यक्तियों को स्पष्ट कर देती हैं कि मृतक अब मृतकों के लोक में जा चुका है। वे समाजीकरण और आत्मिक गुण वाले संस्कार होते हैं। उनमें उपचार का भी पक्ष शामिल होता है। मृतक को गाड़ दिए जाने के बाद उसकी कब्र पर चावल की हंडिया फोड़ने के साथ ही सांक्रांतिक पक्ष का क्रमशः समापन हो जाता है।

अंतिम संस्कार के बाद शोक करने वाले पुरुष पास की किसी नदी या जलाषय में स्नान करते हैं। वे एक पगड़ी पहनते हैं जिसे बाद में धोया जाता है। मृतक के साथ के सारे धनों को कब्रिस्तान की आधी दूरी पर किसी बेर के पेड़ के नीचे तोड़ दिया जाता है। यहाँ सभी शोक करने वाले पुरुष एक पत्ती तोडते हैं और एक पत्थर उठाते हैं। वे उन्हें सिर के

ऊपर से घुमा कर फेंक देते है। यह शुद्धिकरण और विच्छेद का अनुष्ठान हैं। यह मृतक के साथ सभी बंधनों को तोड़ देने का बोध कराता है। पीतल के एक कलष में भर कर लाए गए पानी को प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में थोड़ा-थोड़ा डाला जाता है। वह व्यक्ति इसे अपने सिर के ऊपर से घुमाकर उसे अपने बाएं पांव के ऊपर डालता है। इस पांव को दरवाज़े पर जलने वाली आग के ऊपर रखा जाता है। यह शुद्धिकरण का संस्कार है जो प्रत्येक अंत्येष्टि के समय किया जाता है

उत्तर सांक्रांतिक संस्कार चलते रहते हैं। शाम को शोक वाले घर में मृतक की फोटो आटे से बनाई जाती है। फोटो की लम्बाई आमतौर पर 10 सेंटीमीटर की होती है। इसके ऊपर एक टोकरी उलटी करके रख दी जाती है। एक घंटे के बाद टोकरी को हटा लिया जाता है और फोटो का मुआयना किया जाता है। उसमें आए किसी भी बदलाव के आधार पर लोग यह पता लगाने का प्रयास करते हैं कि उस व्यक्ति की मृत्यु क्यों हुई और उसकी आत्मा कैसे रहेगी। उदाहरण के लिए अगर उसके पेट के पास से बदलाव नजर आते है तो यह कहा जाता है कि उसकी मृत्यु पेट की खराबी से हुई है इन अनुष्ठानों में अगर कोई रुकावट आती है तो उसे भी जादू टोना का चिह्न माना जाता है। इस शकुन विचार, विशेषतया आत्मा से संबंधित पक्ष को परलोक में समावेश के संस्कार के रूप में देखा जा सकता है। कोरकू समाज में उत्तर सांक्रांतिक अनुष्ठान बहुत स्पष्ट हैं और उनमें नहाना, सिर के ऊपर से पत्तियों का फेंकना और प्रत्येक शोक करने वाले के हाथ में पीतल के कलष से पानी डालना शामिल है। इन संस्कारों से यह संदेश मिलता है कि मृतकों और जीवितों में अंतर होता है। क्रियाओं का उपचारात्मक महत्व भी होता है क्योंकि इनसे शोक करने वालों को कुछ करने का अवसर मिलता है। 10 सेंटीमीटर लंबा आटे का बना चित्र भी दुःखी व्यक्तियों को इस ओर से आष्वास्त करता है कि मृत्यु का एक विशिष्ट कारण अवश्य था।

शकुन विचार समाप्त हो जाने के बाद एक मुर्गा मार कर उसे भूना जाता है। इसे चावल के साथ खाया जाता है। इस भोज के बाद अक्सर कोई स्त्री समाधि की स्थिति में पहुंच जाती है जिसके बारे में यह विश्वास किया जाता है कि उस पर मृतक की आत्मा आ गई है। यह स्त्री अक्सर शोक करने वालों को उनका भविष्य बताती है।

फिर शोक वालों के घर में रात्रि भोज का प्रस्ताव रखा जाता है। शव रहने तक वहां खाना नहीं बनाया जाता। मौत वाले इस घर में रोज सुबह शोक गीत गाए जाते हैं। विच्छेद पूरा होने के साथ-साथ ये गीत छोटे होते चले जाते हैं। मृतक की स्मृति में लगभग दो सप्ताह बाद मृत्यु भोज का आयोजन किया जाता है। सारे मेहमान इनमें अपना-अपना योगदान देते हैं। प्रारंभ में एक बकरे और कुछ मुर्गों की बली चढ़ाई जाती है। ये मृतक के लिए भेंट होती हैं और इससे उसकी आत्मा को आसानी से शांति मिल जाती है। बलि का अनुष्ठान पूरा होने के बाद मृतक की आत्मा घर के बीच वाले खंभे पर जाती है। यहां मृत्यु भोज के बाद पैंतालीस दिन तक प्रार्थना होती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कोरकुओं में ये उत्तर सांक्रांतिक अनुष्ठान कहीं अधिक विस्तृत होते हैं जिनके माध्यम से मृतक का परलोक में समावेशन होता है। इसमें घर के बीच वाले खंभे पर पैंतालिस दिन होने वाली प्रार्थना भी शामिल है। मृत्यु के बाद वृद्ध तो प्रेतात्मा बन जाते हैं और जो लोग छोटी उम्र में मरते हैं उन्हें कोई दुष्टात्मा खा जाती है। कोरकुओं में प्रकृतिगत विश्वास पाए जाते है और वे ये मानते हैं कि आत्माएं चक्रवातों और दूसरी प्राकृतिक प्रघटनाओं में वास करती हैं। वे पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि मृतक आमतौर पर जीवितों के प्रति उदासीन होते हैं। वे गांव के ठीक बाहर किसी छायादार पेड़ के नीचे मृतकों की स्मृति में पत्थरों का ढेर लगा कर रहते हैं। उनमें यह बुनियादी विश्वास भी पाया जाता है कि मृतक ने अपने जीते जी धरती पर जैसे कर्म किए होते हैं उसे उसी के अनुसार स्वर्ग में दंड या

पुरस्कार मिलता है। जिस व्यक्ति ने अच्छे कर्म किए होंगे उसे स्वर्ग में अच्छे फल मिलेंगे और जिसने बुरे कर्म किए होंगे उसे नर्क में दंड भुगतना होगा।

उपर्युक्त उल्लिखित उत्तर सांक्रातिक अनुष्ठान अपने आप में पूर्ण नहीं होते और इस संदर्भ में एक साल बाद स्मृति भोज का आयोजन भी किया जाता है, सिदौली भोज के बाद ही जाकर मृतक की आत्मा को शांति मिलती है और तब दूसरे लोक में उसके समावेश को पूर्ण समझा जाता है। इस दौरान सांक्रांतिक पहलू बरकरार रहते हैं और आत्मा संक्रांति की स्थिति में ही रहती है।

भोज का आयोजन और प्रबंध मृतक के परिवार के लोग करते हैं और वे ही भोजन परोसते भी है। भोज में सगे संबंधियों और नजदीकी लोगों को आमंत्रित किया जाता है। भोज के आयोजन से मृतक की आत्मा को शांति मिलती है। उसके अवशेषों को नदी किनारे ले जाया जाता है। वहां उसकी स्मृति में एक खंभा गाड़ा जाता है जिसे मुंडा कहते है। यह सागवान की लकड़ी का बना होता है। इसे जमीन में दो फुट गहरा गाड़ते हैं और इसका शेष तीन फुट जमीन से ऊपर निकला रहता है। यह स्मृति स्तंभ चौकोर होता है। अगर व्यक्ति की मृत्यु परदेश में हुई होती है तो मुंडा उसके अपने घर में गाड़ा जाता है। लेकिन कोरकुओं के सभी वंशों में मुंडा गाड़ने की प्रथा नहीं है।

इसके अतिरिक्त उत्तर दिशा में एक मांडो झोपड़ी भी बनाई जाती है। इसके अंदर नदी से लाए गए शंकु के आकार के सात पत्थर होते हैं। इनमें से प्रत्येक पत्थर एक देव का प्रतीक होता है। इस तरह की झोपड़ी केवल ओझाओं और गांव के पुरोहितों के लिए होती है।

इसके बाद कुछ और भोज भी आयोजित किए जाते हैं। ये भोज मृतक को शरीर और आत्मा अर्थात् दोनों को अपने समाज से निकाल देने के लिए जीवितों के प्रयास का संकेत है। यह मृतक के दूसरे लोक में समावेशन को सुगम बनाने का प्रयास भी है। हम यह कह सकते हैं कि इनके बीच का समय मृतक की आत्मा के लिए एक प्रकार का सांक्रांतिक चरण होता है। एकजुटता का यह दिलचस्प अनुष्ठान होता है। जिसमें पिछले सिदौली भोज से प्रत्येक पड़ोसी के यहां एक दीया धरी टोकरी लेकर जाया जाता है। इसके बाद भजन गाए जाते हैं। भोज के मुख्य आयोजक वर और वधू का वेष धारण करते हैं। उनके वस्त्रों को गाँठ लगा कर जोड़ दिया जाता है। उसकी जगह कोई लड़का लड़की भी ले सकते हैं, लेकिन उन पर बाद में विवाह करने का कोई बंधन नहीं होता। आधी रात के बाद वे दोनों अलग हो जाते हैं और एक कमरे में एक दूसरे से विपरीत दिशा में चले जाते है। और एक दूसरे पर चिल्लाने लगते हैं और एक दूसरे को गाली देते है। उसके तुरंत बाद दूसरे मेहमान भी ऐसा ही करते हैं। यह एक प्राचीन संस्कार है और बाहरी व्यक्ति को यह गंदा भी लग सकता है। लेकिन यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वे यह व्यक्त करना चाहते हैं कि उनका सरोकार अब इस लोक से और एक दूसरे से है, किसी आत्मा से नहीं। भोज के तीसरे दिन मुंडा को खड़किया ले जाया जाता है जहां होली मनाई जाती है।

यहां एक बकरे को मारा जाता है। भोज के चौथे दिन मुंडा को किसी नदी के पास गाड़ा जाता है। कुछ और संस्कार भी होते हैं। वैसे उन सभी का एक ही अर्थ होता है अर्थात् मृतक की आत्मा का जीवितों का लोक छोड़ कर मृतकों में समावेश करना।

6.5 सारांश

इस इकाई में हमने विभिन्न समुदायों में जन्म, विवाह और मृत्यु के संस्कारों का विवरण और व्याख्या दी है। ये समुदाय हैंः हिन्दू, सीरियाई ईसाई, सिक्ख, मुस्लिम और कोरकू। हमने इस विषय पर पर्याप्त चर्चा की है और इन संस्कारों के सामाजिक महत्व को समझा है।

6.6 संदर्भ

कोल, डब्ल्यू, ओ.,और सांभी, पी. एस., 1978, ''*दि सिक्खसः देयर रिलीजियस बिलीफ्स एंड प्रैक्टिसिस*', विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि. नई दिल्ली

पोथान, एस. जी., 1963, ''*द सीरियाई क्रिष्चियन्स ऑफ केरला*', एशिया पब्लिशिंग हाउसः दिल्ली

सरस्वती, बी. एन., 1977, ''*ब्राहमनिक रिचुअल ट्रेडीषंसः इन द क्रूसिबिल आफ टाइम्स*', इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीः शिमला

सरस्वती, बी एन., 1984, दि स्पेक्ट्रम ऑफ द सेक्रेड'', (रांची एंथ्रोपोलॉजी सीरीज 6, संपादकः एल. पी. विद्यार्थी) कंसेप्ट पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली

पांडे, राज बाली 1976, *हिन्दू संस्कार : ''सोशल रिलीजंस स्टडी ऑफ द हिन्दू सैक्रामेंटस'* मोतीलाल बनारसी दास : दिल्ली

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय पाठ्यसामग्री (2005), *भारत में समाज* (ESO-12), इग्नू, नई दिल्ली

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय पाठ्यसामग्री (2005), *समाज और धर्म* (ESO 15), नई दिल्ली

पोथन एस.जी.1963, ''*द सीरियन क्रिष्चियंस ऑफ केरला'' एशिया पब्लिशिंग हाउसः* दिल्ली

फुक्स स्टीफन, 1988, ''*द कोरकू ऑफ द विंध्या हिल्स*' इंटर इंडिया पब्लिकेशन : नई दिल्ली

6.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) क) समावेशन के संस्कार

ख) संक्रांति के संस्कार

ग) विच्छेद के संस्कार

ii) क) समाजीकरण के रूप में संस्कार

ख) अस्मिता के रूप में संस्कार

ग) पुण्य एवं प्रस्थिति के रूप में संस्कार

घ) मौखिक संवाद के रूप में संस्कार

बोध प्रश्न 2

i) सीरियाई ईसाइयों में अंतिम संस्कार की मुख्य विशेषताएं ये हैं कि इनमें शव गाड़ने की रस्म होती है जिस की अगुआई पुरोहित और शोक करने वाले करते हैं। कब्रिस्तान किसी गिरजाघर के परिसर में होता है। जब ताबूत कब्र में उतार दिया जाता है तो प्रत्येक शोक करने वाला उसमें मिट्टी डालता है। मृतक के चेहरे को पूर्व दिशा की ओर रखा जाता है अर्थात जहां यरुशलम है। उनका विश्वास है कि वहीं से यीशु मसीह का आना होगा।

ii) हिन्दुओं में दाह संस्कार के अगले दिन अस्थियों का संचयन किया जाता है। उस समय तक चिता ठंडी हो चुकी होती है। अस्थियों को पास की नदी में विसर्जित किया जाता है। साधु संतों की भस्म और अस्थियों को ले कर समाधि बना दी जाती है।

इकाई 7 प्रार्थना : तीर्थयात्रा और पर्व*

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 तीर्थयात्राएँ क्या हैं?

7.2.1 टर्नर द्वारा तीर्थयात्राओं का वर्गीकरण

7.2.2 तीर्थयात्राओं का सामाजिक महत्व

7.3 धार्मिक पर्व

7.3.1 धार्मिक पर्व क्या है?

7.3.2 धार्मिक पर्व का सामाजिक महत्व

7.4 सारांश

7.5 संदर्भ

7.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- किसी एक व्यक्ति के व्यवहार और एक सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था अर्थात दोनों को धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति के रूप में समझते हुए तीर्थयात्रा का अर्थ और उसकी प्रकृति को समझ सकेंगे,
- तीर्थयात्राओं के सामाजिक महत्व अर्थात एक समुदाय के सामाजिक-आर्थिक जीवन पर तीर्थयात्रा के प्रभाव और लोगों की सामाजिक एकात्मता और एकता पर तीर्थयात्रा के प्रभाव की विवेचना कर सकेंगे, और
- आप व्यापक रूप से जान पाएंगे कि किस तरह से, विशेषकर भारत में, इतिहास में सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में आए बदलाव के प्रत्युत्तर में तीर्थयात्रा का उदय हुआ।
- धार्मिक पर्व की समाजशास्त्रीय व्याख्या कर पाएंगे।
- समाज और धर्म के बीच के संबंध को बेहतर तरीके से समझ सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

प्रार्थना करने के अनेक प्रकार के तरीके हैं। बहुत से लोग अपने घर में प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं। अनेक लोग तीर्थयात्रा पर और धार्मिक पर्वों पर विशेष प्रार्थना करते हैं। इस इकाई की शुरूआत हम इस प्रश्न से कर रहे हैं कि तीर्थयात्रा क्या है? फिर हम तीर्थयात्रा के पुण्य देने वाले पक्षों की समीक्षा करेंगे। उसके बाद हम तीर्थयात्रा के संस्थात्मक पक्ष और उससे जुड़ी और उससे जुड़ी पवित्रता का विवेचन करेंगे। फिर हम तीर्थस्थलों के संस्थात्मक पक्ष और उससे जुड़ी पवित्रता का विवेचन करेंगे। फिर हम तीर्थस्थलों और उनकी सांक्रांतिकता

*इग्नू पाठ्यसामग्री से अनुकूलित : *समाज और धर्म* (ESO-15) की इकाई 30 प्रो. एस. के. भट्टाचार्य द्वारा रचित और इकाई 31 को जे. एस. भट्ट द्वारा रचित का नीता माथुर द्वारा संशोधन

और तीर्थयात्रा में शुभ/अशुभ की प्रकृति की संविक्षा करेंगे। हम इस प्रश्न पर विवेचन करेंगेः धार्मिक पर्व क्या है? हम तीर्थयात्रा और धार्मिक पर्व के सामाजिक महत्व पर चर्चा करेंगे।

7.2 तीर्थयात्राएँ क्या है?

संसार के अधिकतर धर्मों में कुछ विशेष स्थानों की पवित्रता को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है, और स्थानों की यात्रा या उसकी अनुशंसा की गई है। ये स्थान चमत्कारों के लिए विश्वासियों या भक्तों के धार्मिक जीवन के लिए प्रेरणा या आस्था के पुनःजीवन के लिए प्रसिद्ध हैं। किसी भी संस्कृति में धार्मिक विश्वास रखने वालों को दूर स्थित ऐसे किसी ' स्थान का ''बुलावा'' आ सकता है और वे वहां जाने का निष्चय कर सकते हैं। उस पवित्र स्थान की ऐसी यात्रा ही तीर्थयात्रा होती है।

तीर्थयात्रा और तीर्थयात्री की परिभाषा (Definition of Pilgrimage and Pilgrim)

अधिकांश लोग तीर्थयात्री के अपने देश या विदेश में स्थित किसी पवित्र स्थान या भवन की यात्रा को तीर्थयात्रा समझते हैं। तीर्थयात्रा का उद्देश्य किसी भौतिक, प्रतीकात्मक, नैतिक या आध्यात्मिक लाभ की प्राप्ति होती है, जो तीर्थयात्री के विश्वास के अनुसार उस पवित्र स्थल से मिलती है। तीर्थयात्रा इसलिए की जा सकती है क्योंकि इस प्रकार की यात्रा मुख्यात्मक मानी जाती है। प्रत्यक्ष रूप से या किसी संत के माध्यम से दैवीय कृपा की प्राप्ति का विचार सामान्यतया इस प्रकार की यात्रा से जुड़ा होता है। इस यात्रा से अपेक्षित लाभ सांसारिक हितों की संतुष्टि से लेकर सर्वोच्च आध्यात्मिक प्राप्ति तक हो सकते हैं। लेकिन यात्रा का आधार तीर्थयात्री या यात्रियों का धार्मिक विश्वास होता है। पवित्र स्थान की यात्रा हमेशा किसी ऐसे धार्मिक उद्देश्य से जुड़ी होती है जो किसी न किसी अर्थ में धार्मिक विचार और विश्वास होते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थयात्रा में बार-बार दिखाई पड़ने वाली दो महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं :

i) पवित्र स्थान, और

ii) यात्रा करने की क्रिया

''तीर्थयात्राएँ असाधारण रूप से पवित्र यात्राएँ होती हैं'' (सरस्वती, 1985-103)। यह सही है कि तीर्थयात्रा जिस रूप में भारत में या और कहीं भी की जाती है उसके पीछे तीर्थयात्री के अत्यधिक विविध उद्देश्य होते हैं।

तीर्थयात्राएँ विवेकहीन आवा-जाही या प्रवास नहीं होती। वे प्राचीन और मध्य युग में प्रचलित विवेकहीन सामूहिक प्रवासों के विपरीत, ऐच्छिक और व्यक्तिगत होती हैं। प्रत्येक यात्रा की व्यक्तिगत क्रिया होती है जो किसी व्यक्तिगत निर्णय का परिणाम होती है और उसकी परिणति व्यापक महत्वपूर्ण व्यक्तिगत अनुभव में होती हैं। इस प्रकार तीर्थयात्रा किसी अंतिम मुल्य या किसी आध्यात्मिक अनुभव की तलाश में की जाने वाली यात्रा होती है।

बॉक्स 7.1 क्या किसी पास के पवित्र स्थान की प्रत्येक यात्रा तीर्थयात्रा होती है?

कोई भक्त जब किसी स्थानीय या पड़ोस के पवित्र स्थल में प्रति दिन या कभी-कभी आता जाता है तो क्या वह तीर्थयात्रा होती है ? नहीं, यह मात्र एक पवित्र स्थल की ''यात्रा'' होती है। तीर्थयात्रा सामान्यतया लंबी दूरी और लंबे समय की यात्रा होती है।

वास्तव में, तीर्थयात्रा से आशय ऐसी यात्रा से होता है जो घर से दूर की जाती है और चाहे थोड़े समय के लिए ही व्यक्ति को घर के बंधनों से मुक्त कर देती है। तीर्थयात्री की यात्रा घरेलू सामाजिक पृष्ठभूमि की उलझनों के बीच शुरू होती है। फिर तीर्थयात्री इन उलझनों से बाहर और दूर किसी ऐसे स्थान पर जाता है जो प्रतिदिन के सांसारिक जीवन की जटिल समस्याओं से अलग होता है। तीर्थस्थल की यात्रा से तीर्थयात्री को तीर्थस्थल में आवश्यक उपयुक्त मानसिक स्थिति की तैयारी का अवसर मिलता है।

तीर्थयात्रा का व्यक्तिवादी पक्ष (Individualistic Aspect of Pilgrimage)

तीर्थयात्रा के संगठन से जुड़े सामूहिक पक्ष के अलावा. हिंदू, बौद्ध और ईसाई संस्कृतियों में तीर्थयात्राओं के विभिन्न अध्ययनों से तीर्थयात्रा का व्यक्तिवादी पक्ष उजागर हुआ है। हिंदू तीर्थयात्रा, विशेषकर काशी की यात्रा, प्रमुख रूप से स्थान और समय में मोक्ष की व्यक्तिवादी तलाश है। सभी संस्कारों का उद्देश्य ऐसे पुण्य अर्जित करना है जो सामूहिक रूप से नहीं बाँटे जा सकते। तीर्थयात्रा का पुण्य व्यक्तिगत रूप से अर्जित किया जाता है, और तीर्थयात्रा का अंतिम लक्ष्य 'मोक्ष की प्राप्ति अर्थात व्यक्ति की अपनी आत्मा की मुक्ति है। तीर्थयात्रा व्यक्ति का निजी मामला होता है। यह सच है कि ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें तीर्थयात्रा करने के उद्देश्य पवित्रता, भक्ति और सामुदायिक तथा सामाजिक निष्ठा के सामान्य वातारण में जन्म लेते हैं। लेकिन बहुधा तीर्थयात्रा ''किसी वचन या प्रतिज्ञा का परिणाम होती है।

कहीं कुछ गलत हो गया होता है, कोई खतरा सामने होता है या अत्यधिक अपेक्षित कोई अच्छी वस्तु नहीं मिल पा रही होती है'' इसी कारणवश तीर्थयात्रा की जाती है। (वही, 255), तीर्थयात्री किसी व्यक्तिगत कामना की पूर्ति के लिए पवित्र स्थान की यात्रा करता है। बौद्ध तीर्थयात्री बुद्ध के अवशेष वाले पवित्र स्थल की प्रदक्षिण करते हैं। यह व्यक्तिगत आध्यात्मिक उत्थान की यात्रा का प्रतीक होता है।

सांसारिक अस्तिव से संबंधित कुछ विशिष्ट उद्देश्य होते हैं। इनमें सामान्यतया उस देवी या देवता से प्रतिज्ञा की जाती है जिससे तीर्थयात्री अपनी किसी महत्वपूर्ण समस्या का समाधान के लिए आशीर्वाद की कामना करता है। जैसे, कोई पुत्र प्राप्ति की कामना लेकर तीर्थयात्रा कर सकता है। दूसरे प्रकार का उद्देश्य धार्मिक पुण्य कमाना है। इस प्रकार के उद्देश्य की परिभाषा देना कठिन है। इसे धन या व्यवसाय में सफलता के लिए प्रार्थना करना नहीं बल्कि आत्मा की शुद्धि करने की इच्छा के रूप में समझा जा सकता है। प्रत्येक तीर्थयात्रा से संबंधित एक पवित्र परिसर होता है। टर्नर (1974:189) के अनुसार तीर्थयात्राएँ गतिविधियों की प्रक्रियाएँ होती हैं और उनके अनुसार ''तीर्थयात्राओं में वस्तुगत स्तर पर प्रक्रियाओं का एक संबद्ध जाल होगा जिनमें प्रत्येक में एक विशेष स्थल की यात्रा शामिल होगी। इस प्रकार के स्थल, विश्वासियों या श्रद्धालुओं के अनुसार, ऐसे स्थान होते हैं जहाँ दैवीय या आलौकिक शक्ति का कोई रूप प्रकट हुआ हो, जिसे मीरशा एलिएड ''ईशदर्शन'' (theophany) कहता है। (टर्नर 1974: 189)।

तीर्थयात्रा की पवित्रता (Sacredness of Pilgrimage)

पवित्र ऐसी वस्तुएँ और क्रियाएँ होती हैं जिन्हें पावन के रूप में विशिष्ट स्थान प्राप्त होता है और जो श्रद्धा की अधिकारी होती हैं। इस तरह की वस्तुएँ और क्रियाएँ अक्सर उस समाज के प्रमुख मूल्यों का प्रतीक होती हैं। पवित्र को अक्सर अपवित्र की तुलना में विपरीत रखकर समझा जाता है। जो अपवित्र होता है वह साधारण होता है, पवित्र नहीं। इमाइल दुर्खाइम के अनुसार सभी धर्म संसार को दो विपरीत लोकों में विभाजित करते हैं : पवित्र और अपवित्र। वे इन लोकों में भेद करने के लिए नियम भी निर्धारित करते हैं। पवित्र और

अपवित्र के इस ठेठ विभाजन की व्यापक आलोचना हुई है। उदाहरण के लिए, पवित्र और अपवित्र के बीच ध्रुवीय विरोध की धारण ा को भारतीय संदर्भ में सावधानी के साथ लागू किया जाना चाहिए क्योंकि, भारतीय धार्मिक चिंतन (विपरीत को अपने में सम्मिलित करने के अर्थ में) श्रेणीबद्ध है, मात्र द्वैतवादी (द्विपक्षीय विरोध को मान्यता देने वाला) नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि अपवित्र अर्थात जो पवित्र का विलोम होते हुए भी पवित्र में शामिल है और इस प्रकार उसके अधीनस्थ है (मदान 1991 : 3)। अपनी पवित्रता के लिए प्रसिद्ध काशी जैसे तीर्थस्थान में भी स्थान की व्यवस्था के संदर्भ से, इसके संस्कारों के संपादन के संदर्भ में और सांस्कारिक पेशेवरों के व्यवसाय के संदर्भ में पवित्र और सांसारिक के बीच अंतराल की व्यवस्था के अनुसार स्पष्ट भेद करना कठिन है।

पवित्रता का स्तर तीर्थस्थानों की यात्रा और वहाँ होने वाले क्रियाकलापों के विभिन्न पक्षों की विशेषता बताता है। तीर्थस्थानों की सांक्रांतिकता उस समय स्पष्ट हो जाती है जब उनकी तुलना घाट से की जाती है। घाट किसी नदी का छिछला भाग या छिछली धारा होती है, जहाँ से पैदल पार जाना संभव होता है। इस स्थान पर नाव के बिना किसी वाहन से भी नदी को पार किया जा सकता है। वास्तव में, तीर्थ संस्कृत का शब्द है, जिसका अर्थ होता है किसी नदी, नहाने के स्थान और तीर्थस्थान में उतरने के लिए बना रास्ता, सड़क, घाट या सीढ़ियाँ। तीर्थ शब्द का इस्तेमाल अन्य अर्थों में भी होता है। लेकिन तीर्थ के विभिन्न अर्थों के इस्तेमाल में पवित्रता का एक प्रतीकात्मक मूल्य होता है। जो किसी उच्च किस्म के स्थान, स्थिति या व्यक्ति से संबद्ध होता है। इस प्रतीकात्मकता का महत्व ''पार करने'' (संक्रांति या पारगमन) में है। घाट लगने या पार उतरने की धारणा में एक पार करने के स्थान का अर्थ निहित होता है। अर्थात (पवित्र और अपवित्र के) दो लोगों के बीच का माध्यम या सांक्रांतिक स्थल ''तीर्थ' ऐसा ही स्थान होता है, और तीर्थयात्रा का स्थान भी ऐसा ही होता है। उसी तरह, एक विद्वान पवित्र, दीक्षित या भक्तजन सांसारिक समाज से ऊपर उठकर मनुष्य और परमात्मा के बीच खड़ा हो जाता है और जो इस तरह एक चौराहे और घाट का काम करता है।

तीर्थस्थान की पवित्रता तीर्थयात्रियों में शुद्धता के प्रति चिंता के कारण होती है। तीर्थयात्रियों को अपने शरीर और मन से अपवित्रता के धब्बों को धो देना होता है। जहाँ तक हिंद तीर्थयात्रियों की बात है, तीर्थयात्रा अति संयम के कारण अपने आप में शुद्धीकरण होती है।

तीर्थयात्रा में शुभ-अशुभ (Auspiciousness in Pilgrimage)

शुभ-अशुभ का विचार तीर्थयात्रा का एक महत्वपूर्ण तत्व है। शुभ-अशुभ में और पवित्र/अपवित्र में अंतर होता है। शुभ/अशुभ का संबंध घटनाओं से और अंततोगत्वा एक घटना-संरचना के रूप में स्वयं जीवन से होता है। पवित्र/अपवित्र की स्थिति मूल रूप से वस्तुओं से संबद्ध होती है। हिंदुओं का तीर्थस्थान किसी नदी या जलाशय के किनारे स्थित होता था औरपवित्र माना जाता है और उसके लिए की गई यात्रा को शुभ माना जाता है। यदि तीर्थस्थान पर दो या दो से अधिक नदियों का संगम हो तो उस स्थान की पवित्रता और बढ़ जाती है और वहाँ की तीर्थयात्रा और भी शुभ हो जाती है (मदान 1987 : 52) शुभ में मंगल कामना और कल्याण निहित होते हैं। शुभ समय या घटना या व्यवहार को कल्याणकारी माना जाता है।

तीर्थयात्री ऐसी वस्तुओं या व्यक्तियों को अत्यंत महत्व देते हैं जो शुभंकर होते हैं, चाहे ऐसी वस्तुएँ या व्यक्ति अपवित्रता से ग्रस्त ही क्यों न हों, इस तरह पुरी के जगन्नाथ मंदिर की तीर्थयात्रा करने वालों से यह कहा जाता है कि देवदासियों के दर्शन और उनकी प्रदक्षिणा करना शुभ होता है, अर्थात उनसे कल्याण होता है। मंदिर में पूजा करने वाले कुछ लोग

नृत्य करती हुई देवदासियों के चरणों की धूल लेते हैं या फिर जहाँ वे नृत्य करती हैं वहाँ जमीन पर लोटते हैं। ऐसा वे अपने कल्याण की आशा में या देवी कृपा प्राप्त करने की आशा में करते हैं। (मार्गलीन 1985 : 109), क्योंकि उन्हें यह बताया जाता है कि देवदासियाँ जगन्नाथ की पत्नी लक्ष्मी का साक्षात रूप हैं। वास्तव में, केवल देवदासियों का दिन और वर्ष की विभिन्न घड़ियों में मंदिर के बाहरी गर्भगृह में नाचने-गाने का अधिकार होता है। वे मंदिर परिसर में होने वाले अनेक अन्य शुभ अनुष्ठानों और कार्यक्रमों से भी जुड़ी होती हैं। इसलिए तीर्थयात्री उन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं।

लेकिन देवदासियों को मंदिर के आंतरिक गर्भ गृह में जाने की अनुमति नहीं होती। इस निषेध का कारण देवदासियों का गणिका या वेश्या होना होता है। इस तरह उनका शरीर अपवित्र होता है। लेकिन तीर्थयात्रियों के लिए देवदासियों के दर्शन या उनकी पूजा शुभ होती है (मार्गलीन 1985 : 35)।

7.2.1 टर्नर द्वारा तीर्थयात्राओं का वर्गीकरण (Turner's Typology of Pilgrimages)

विक्टर और एडिथ टर्नर ने तीर्थों का वर्गीकरण करने का प्रयास किया और उन्होंने अपने वर्गीकरण में मुख्य रूप से यूरोपीय इतिहास और ईसाई तीर्थों के इतिहास को आधार बनाया है (टर्नर और टर्नर, 1978)।

i) **पुराकालीन तीर्थ (Archaic Pilgrimage)**: पुराकालीन तीर्थ परंपराएँ बहुत पुराने समय से चली आ रही हैं, और उनके उद्‌भव के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। पुराकालीन तीर्थ वे तीर्थ हैं जिनमें पुराने धार्मिक विश्वासों और प्रतीकों वाले समन्वयवाद की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है। टर्नर और टर्नर मेक्सिकों में ग्लैस्टनबरी, चलमा, आयरलैंड में क्रोपेट्रिक और भारत में पंढारपुर का उदाहरण देते हैं। पंढारपुर को इस वर्ग में इसलिए शामिल कर लिया गया है क्योंकि ''इसकी दैवीय सत्ता विनोबा भावे के विषय में यह मानती है कि उसकी संगत द्रविड़, पूर्व-भारतीय यूरोपीय रही होगी'' (टर्नर और टर्नर, 1978 : 18)।)

ii) आदिप्ररूपीय तीर्थ (Prototypical Pilgrimage): किसी धर्म के संस्थापक या उसके पहले शिष्यों या उसके पंथ के महत्वपूर्ण प्रचारकों के शुरू किए गए तीर्थों को आदिप्ररूपीय कहा जा सकता है। इसके उदाहरण हैं : यरूशलम और रोम (ईसाई धर्म), मक्का (इस्लाम), बनारस और कैलाश पर्वत (हिंदू धर्म), बोध/गया और सारनाथ (बौद्ध धर्म)।

iii) स्वर्णकालीन तीर्थ (High-period Pilgrimage): तीर्थ परम्पराओं के स्वर्ण युग में प्रतीकों से लैस उत्कृष्ट तीर्थस्थलों को सृजित किया जाता था। मध्ययुग में जब भूमध्यसागरीय क्षेत्रों में बढ़ती मुस्लिम ताकत ने पुण्य भूमि (होली लैंड) के लिए ईसाई तीर्थों को अस्त व्यस्त किया तो समूचे यूरोप में तीर्थ स्थलों के निर्माण से इस क्षति की भरपाई की गई। कृत्रि, केंटरबरी, कम्पोस्टेला, लोरेटो कैमित्री चकोचांवा आदि ऐसे महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। अन्ततः बहुत से यूरोपीय केंद्रों पर चहल पहल और इसके साथ-साथ पतन होना शुरू हो गया और प्रतीकात्मक वस्तुओं और रस्मों की भरमार में असली अर्थ लुप्त हो गया।

iv) आधुनिक तीर्थ (Modern Pilgrimage): पिछली दो शताब्दियों में पूरी दुनिया में एक प्रकार के तीर्थ का विकास हुआ है जिसकी विशेषता ''उनके तीर्थयात्रियों की व्यक्तिगत पवित्रता और एक अत्यधिक भक्तिमय भाव'' है। इस आधुनिक तीर्थ में

''सामूहिक प्रौद्योगिकी और वैज्ञानिक संस्कृति का गहन समावेश'' है। तीर्थयात्री मोटर वाहनों और विमानों से यात्रा करते हैं। तीर्थस्थलों से समाचार पत्र और परचे प्रकाशित होते हैं। आधुनिक तीर्थों के आवाह-क्षेत्र बड़े और समृद्ध औद्योगिक शहर होते हैं। फिर भी, देव भवन का संदेश ''अब भी पारंपरिक, आज के मूल्यों के विरुद्ध है। यूरोप में और आधुनिक विश्व के जापान या इजरायल जैसे देशों में संत-कद्रित और दैवीय दर्शन वाले तीर्थ बहुतायत में पाए जाते हैं।

बोध प्रश्न 1

i) टर्नर ने कितने प्रकार के तीर्थ बताए हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

ii) भारत में तीर्थयात्राओं पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

7.2.2 तीर्थयात्राओं का सामाजिक महत्व (The Social Significance of Pilgrimages)

तीर्थयात्राओं के सामाजिक महत्व को अच्छी तरह से समझने के लिए हम प्रक्रिया के रूप में तीर्थ पर टर्नर की अवधारणा की समीक्षा करेंगे। इस अवधारणा के अंतर्गत टर्नर ने तीर्थयात्राओं में बिरादरी और उनकी सांक्रांतिक प्रकृति पर बल दिया है। फिर हम यह चर्चा करेंगे कि तीर्थयात्रा सामाजिक जीवन के सामाजिक और सांस्कृतिक एकीकरण, शैक्षिक, आर्थिक, राजनीतिक और अन्य प्रकार की गतिविधियों जैसे विभिन्न पक्षों से किस प्रकार जुड़ी है।

टर्नर की अभिधारणा (Turner's Thesis)

विक्टर डब्ल्यू, टर्नर सामाजिक प्रक्रिया के रूप में तीर्थयात्रियों पर अपनी अभिधारणा का प्रारंभ इस विचार के साथ करता है कि एक पारगमन संबंधी संस्कार के रूप में तीर्थयात्रा का एक त्रि चरणीय स्वरूप है (जैसा कि वान गेनेप ने विवरण दिया है-

i) विच्छेद

ii) सांक्रांतिक चरण (जिस में स्वयं यात्रा, पवित्र स्थल में ठहरना, और पवित्र सत्ता के साथ संपर्क होता है) और

iii) पुनः एकत्रीकरण (घर वापसी)

इस संदर्भ में टर्नर ने सामाजिक अनुभव की दो विशेषताओं पर ध्यान देने का आग्रह किया है

i) संरचना की विशेषता, और

ii) समुदायों या बिरादरी की विशेषता

संरचना में लोगों में सामाजिक भूमिका और स्थिति के आधार पर भेद किया जाता है और अक्सर श्रेणीबद्ध राजनीति व्यवस्था में उन्हें जोड़ा जाता है। इसके विपरीत बिरादरी समान के विभेद रहित समुदाय के रूप में स्वयं की प्रस्तुति करती है, ये समान लोग एक दूसरे को तुरंत और संपूर्णता में मान्यता देते हैं। बिरादरी को लगभग हर कहीं पवित्र माना जाता है और ऐसा शायद इसलिए है कि यह उन मान्यताओं को नकारती और तोड़ती है जो संरचनाबद्ध और संस्थाबद्ध संबंधों को नियंत्रित करती है, और यह अभूतपूर्व शक्ति के अनुभवों के साथ चलती है। टर्नर (1974: 203) के अनुसार 'बिरादरी वहाँ बनती है जहाँ सामाजिक संरचना नहीं होती' और वह आधारभूत एकता के उन बंधनों को पुष्ट करती है जिस पर सामाजिक व्यवस्था अंततः आधारित होती है। आत्मचेतन तीर्थयात्राओं को (i) बिरादरी का अनुभव देने वाले अवसर और (ii) बिरादरी के एक पवित्र स्रोत की यात्राएँ भी मानते हैं जिन्हें चंगाई और नवीकरण का स्रोत भी माना जाता है। तीर्थस्थल के लिए घर से प्रस्थान करने और वहाँ से घर लौटने के बीच की अवधि की विशेषताएँ हैं : सांक्रांतिकता, बिरादराना संबंधों की इष्टतम व्यवस्था और बिरादरी और समानीकृत और व्यक्तिगत स्थिति वाले मनुष्यों के बीच सहज से बने संबंध (टर्नर 1974 : 202)

सांक्रांतिकता और बिरादरी मिल कर प्रति संरचना का निर्माण करते हैं। प्रति संरचना पूर्ण रूप से संरचना का उलटना नहीं है बल्कि समस्त रचनाओं का स्रोत और मूल है। इसमें नई संभावनाओं का संकेत मिलता है। तीर्थ की स्थिति में बिरादरी की नीति तीर्थयात्रियों के बीच विकसित होने वाले और उन्हें एक समूह के रूप में जोड़ने वाले सामाजिक बंधन को अभिव्यक्त करती है। तीर्थयात्रियों के समूह के सदस्यों के बीच बनने वाले संबंध के रूप में ये उन सामाजिक विभाजनों से परे होते हैं जो घरेलू परिवेश में सामाजिक व्यवस्था का विशिष्ट और आवश्यक गुण होता है। तीर्थयात्री कुछ समय के लिए सामाजिक संरचना के जालों से मुक्त हो जाते हैं। जहाँ से वे तीर्थ स्थल की यात्रा करते हैं। इससे उन्हें केवल अस्थाई मुक्ति मिलती है, इसलिए तीर्थ को व्यक्ति के निवास स्थान की अत्यधिक व्यवस्थित और संरचनाबद्ध जिंदगी की तुलना में प्रति संरचना का एक रूप कहा जाता है तीर्थयात्रा में तीर्थयात्रियों के बीच भ्रातृत्व और बंधुत्व का एक अस्थाई बंधन बनता है।

तीर्थयात्रा और सामाजिक-सांस्कृतिक एकीकरण (Pilgrimage and Socio-Cultural Integration)

किसी व्यक्ति समूह के सामाजिक और सांस्कृतिक एकीकरण में तीर्थयात्राओं का योगदान तीन स्तरों पर देखा जाता है। ।

i) तीर्थयात्रा से समूह की सीमाओं को तोड़कर राष्ट्रीय या क्षेत्रीय एकीकरण को बढावा मिलता है।

ii) तीर्थयात्रा समूहों के मूल्यों और आदेशों को बनाए रखने और मजबूत करने के संदर्भ स्वयं तीर्थयात्रियों पर गहरा प्रभाव डालती है।

iii) अनेक प्रसंगों में तीर्थयात्रा उस क्षेत्र के सामाजिक संबंधों के मौजदा स्वरूप को सुदृढ करती है जहां से तीर्थ के लिए यात्री निकलते हैं :

भारत प्रजाति क्षेत्र, भाषा, पंथ और जाति आदि की विविधता के लिए विख्यात है। इस संदर्भ में सभी तीर्थयात्राएँ भारतीय जनमानस की मूलभूत एकता के विचार का अत्यत महत्वपूर्ण

वाहक रही है। इसका उल्लेख करते हुए एम.एन श्रीनिवास (1962 : 105) ने लिखा है, 'भारत की एकता की अवधारणा मूल रूप से धार्मिक अवधारणा है' प्रसिद्ध तीर्थस्थल देश के कोने-कोने में स्थित हैं। ब्रिटिश शासन से पहले के समय में संचार और यातायात बहुत घटिया थे। उन दिनों भी तीर्थयात्री अक्सर भंयकर जानवरों और डकैतों और बीमारियों और अभावों आदि के खतरों से जूझते हुए भी सैकड़ों मील पैदल चल कर तीर्थस्थानों को पहुँचते थे। उनका उद्देश्य पुण्य कमाना होता था। महातीर्थयात्रा प्रदक्षिणा कहलाती थी अर्थात भारत भूमि की परिक्रमा करनी होती थी।

बनारस जैसे पावन तीर्थस्थल में अनेक प्रकार के लोग और संस्कृति के अनेक स्थानीय और क्षेत्रीय तत्व एक छोटे से स्थान में आस-पास जमे हैं। बनारसं में वेद का अध्ययन करने वाले मराठी पुरोहित को मराठी विद्वान की तलाश होगी और उससे ऐसे विद्वान वहाँ मिल भी जाएंगे वहाँ उसे बंगाली और तमिल विद्वान भी मिल जाएंगे और उनकी विशिष्ट क्षेत्रीय संस्कृतियों के रंग वाले संस्कार भी मिल जाएंगे। उदाहरण के लिए पूरे तमिलनाडू राज्य में अनेक तीर्थस्थलों में मिलने वाले मुरूकन देव तमिलनाडू और उसके वासियों के प्रतीक के रूप में स्थापित हैं। तीर्थयात्राएँ तमिलनाडू की क्षेत्रीय अस्मिता की एक विशेषता है। तीर्थयात्रा स्थानीय क्षेत्र के अंदर एक सामाजिक बंधन बनाती है। तीर्थयात्रा पंथवाद के विरुद्ध होती है और उसमें सभी वर्ग के लोग मिलकर गैर पंथवादी कृषि संस्कारों में हिस्सा लेते हैं। ये संस्कार उस क्षेत्र की समूची जनसंख्या से संबंधित होते हैं।

कुछ तीर्थयात्राएँ राष्ट्रीय सीमाओं से भी पार की जाती हैं, इसलिए वे राष्ट्र राज्य से बड़े समुदायों को इकट्ठा करने का काम करती हैं। मक्का की तीर्थयात्रा तमाम अलग-अलग समुदायों के मुसलमानों को मक्का के प्रति श्रद्धा रखने वाले एक समुदाय में जोड़ देती है।

बोध प्रश्न 2

i) संरचना और बिरादरी के विषय में टर्नर के क्या विचार हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

ii) तीर्थयात्रा के सामाजिक सांस्कृतिक पक्ष पर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

तीर्थयात्रा और शिक्षा (Pilgrimage and Education)

तीर्थयात्रा तीर्थ करने वालों के लिए शिक्षा, सचना और सांस्कृतिक चेतना का एक महत्वपूर्ण स्रोत रही है। उदाहरण के लिए, हिन्दू तीर्थयात्रा दूरस्थ गाँवों में रहने वाले असंख्य लोगों का समूचे भारत और उसके विभिन्न रीति रिवाजों, जीवन षैलियों और प्रथाओं को जानने

का अवसर प्रदान करती है। कर्वे (1962:13-29) के अनुसार तीर्थयात्रा में शिक्षा की तीन विशेषताएँ मिलती हैं, ये हैं:

i) पारंपरिक ज्ञान का संरक्षण

ii) उसका संवर्धन,

iii) और अगली पीढ़ी में उसका प्रसार।

ऐसी शिक्षा बहु आयामी भी थी। धर्म और दर्शन के अतिरिक्त संगीत, नृत्य और नाटक की तीन कलाएं भी इसमें शामिल थीं। यह भारतीय समाज के अंदर पाए जाने वाले समस्त समुदायों, जातियों और वर्गों को कुछ समय के लिए साथ रहने का अवसर भी प्रदान करती थी।

तीर्थयात्रा और कलाएँ (Pilgrimage and the Arts)

नृत्य और संगीत, वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला को भी तीर्थयात्रा से बहुत प्रोत्साहन मिलता है और यह इन कलाओं के हस्तांतरण का काम भी करती हैं। हिन्दू और जैन तीर्थों के अनेक मन्दिर अपनी कलात्मक सुंदरता और अभिकल्पना के लिए प्रशंसनीय हैं और उनसे उदाहरण लेकर और भी वैसे ही भवन बनाये गये हैं। भारत के मंदिरों के विषय में यह कहना सही है कि वे ईट, और पत्थर में तराशे हुये कविता और दर्शन के प्रतीक हैं और मंदिर पूजा के कारण ही एक प्रकार से मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत और नृत्य की महान कलाओं का विकास हआ और वे उत्कृष्टता के असाधारण स्तर तक पहुंची। उत्तर और पश्चिम भारत में काफी प्राचीन मंदिर आसानी से नहीं मिलते क्योंकि देश के इन भागों में बार-बार विदेशी आक्रमण और विध्वंस होते रहे हैं। उत्तर भारत की तीर्थ परंपरा में किसी भूमि या क्षेत्र के दैवीकरण के माध्यम से वहाँ तीर्थ बन जाता है। मंदिर जिस पवित्र क्षेत्र में खड़े होते हैं वे स्वयं उससे कम महत्वपूर्ण होते हैं। इसके विपरीत, मंदिर बनाकर और देवी या देवता की वहाँ स्थापना करके तीर्थ का निर्माण करना अधिकतर दक्षिण भारतीय परंपरा है। इसलिए बडे-बडे मंदिर परिसर और दीवारों से घिरा पवित्र क्षेत्र दक्षिण की विशेषताएँ हैं।

तीर्थयात्रा, भौतिक संस्कृति और अर्थव्यवस्था (Pilgrimages, Material Culture and Economy)

तीर्थयात्रा के मार्ग में तीर्थयात्रियों के बीच जो विचारों और सामग्री का आदान-प्रदान होता है उसके माध्यम से भौतिक संस्कृति के प्रसार में तीर्थयात्रा की विशेष भूमि की भूमिका होती है। प्राचीन तीर्थयात्राओं के मार्गों का नक्शा देखने से उत्तर और दक्षिण के बीच संपर्क के कम से कम दो स्वीकार्य क्षेत्रों या गलियारों का पता चलता है। लगता है ये गलियारे हल कृषि के दक्षिण की ओर प्रसार करने के उद्देश्य से पसंद किए गए थे। हल कृषि के लिए कम उपयुक्त क्षेत्र ऐसे दायरे के बाहर रहते थे, इसलिए वहाँ आदिवासी लोगो का आबादी की बसावट है। हरिद्वार के पुरोहित या पंडे बड़ी-बड़ी बहियाँ रखते हैं जिनमें उनके जजमानों की वंशावली का लेखा जोखा रहता है। ये बहियाँ उनके पास पीढ़ियों से चली आ रही हैं और पिता से पुत्र के हाथों में दे दी जाती हैं। यह दूसरे पुरोहितों को बेच भी दी जाती हैं और दहेज में दामाद को भी दी जा सकती हैं या फिर संपत्ति के रूप में उनका लेन-देन भी हो सकता है। ऐसे पंडों की जीविका के साधन तीर्थों के साथ जुड़े होने के कारण हैं कि पंडे अपनी जीविका के लिए तीर्थयात्रा पर आने वाले तीर्थयात्रियों के दिए दान पर निर्भर रहते हैं। किसी तीर्थस्थल में तीर्थयात्रियों की लगातार आवाजाही से उस क्षेत्र में व्यापार की गतिविधियों में तेजी आती है। तीर्थयात्रियों की छोटी-बड़ी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विभिन्न प्रकार की बाजारी व्यवस्थाएं बन जाती हैं।

वहाँ अस्थाई आश्रय, भोज्य, पूजा सामग्री आदि तीर्थ से जुड़ी आवश्यकताओं के अलावा कई प्रकार के मनोरंजन भी सहायक व्यवसाय के रूप में नजर आने लगते हैं। उदाहरण के लिए राजस्थान का पुश्कर तीर्थ अपनी पावन प्रकृति के अतिरिक्त अपने मेले के लिए भी प्रसिद्ध है । जहाँ काफी दूर-दूर से लोग मवेषी खरीदने और बेचने के लिए आते हैं और इससे इस क्षेत्र में अच्छा धंधा होता है।

तीर्थयात्रा का सामाजिक-राजनीतिक पक्ष (Socio-Political As pect of Pilgrimage)

विभिन्न जनजातियों, समुदायों और स्थानों के अनेक लोगों के तीर्थ के समान उद्देश्य से एक दूसरे के निकट संपर्क में आने से राजनीतिक एकता के विकास और राजनीतिक प्राधिकरण की स्थिरता का आधार बनता है। तीर्थयात्राओं में अखिल इब्रानी (pan-hebraism) (धर्म की हिब्रू पद्धति) ने भी उतनी ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जितनी आज के अखिल इस्लामवाद (pan-islamism) ने अतीत में तीर्थस्थानों ने साम्राज्यों के लिए वैचारिक वैधता प्रदान की थी। ईसाई तीर्थयात्राओं के प्रारंभ को फिलिस्तीनी और सीरियाई 'पवित्र भूमि' के महिमा मंडन में देखा जा सकता है जिसे सम्राट कांस्टैनटाइन और कलीसियाई परिजनों ने अंजाम दिया। यरुशलम की यात्रा का इरादा करने वाले ईसाइयों में यौद्धिक भावना उस समय बनी जब रास्ते की परेशानियाँ ईसाई के विरोधी अरब या मुस्लिम शासकों की असहिष्णुता बढ़ गई। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि ग्यारहवीं बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों में ईसाई जिहाद में और तीर्थयात्रा की प्रथा में भी सांसारिक महत्वाकांक्षाओं और राजनीतिक विजय का उद्देश्य घुस आया। इसी तरह बौद्ध और इस्लामी तीर्थ क्रमशः सम्राट अशोक और मुहम्मद साहब और उनके धार्मिक कार्यकर्ताओं के बौद्ध धर्म और इस्लाम को राज्य धर्मों के रूप में प्रतिष्ठित करने के प्रयासों के परिणामस्वरूप शुरू हुए।

बोध प्रश्न 3

i) तीर्थयात्रा शिक्षा, सूचना और सांस्कृतिक चेतना का स्रोत किस प्रकार है?

.....

.....

.....

.....

ii) आपके विचार से तीर्थस्थलों और प्रदर्शन कलाओं के बीच क्या संबंध है?

.....

.....

.....

.....

iii) तीर्थस्थलों के आसपास बाजार क्यों बन जाते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

7.3 धार्मिक पर्व (Religious Festivals)

इस इकाई में आप को दो प्रश्नों पर विचार करना है। धार्मिक पर्व क्या है? इसक सामाजिक महत्व से हमारा क्या आशय है और इसकी समाजशास्त्रीय व्याख्या किस तरह कर सकते हैं?

7.3.1 धार्मिक पर्व क्या है? (What is a Religious Festival?)

पर्व का अर्थ होता है आनंदपूर्ण उत्सव, भोज (*चैम्बर की 20वीं सदी का शब्दकोष*)। इसका अर्थ सार्वजनिक उत्सव या आमोद-प्रमोद भी होता है (*ऑक्सफोर्ड प्रोगरेसिव इंग्लिश डिक्शनरी*)। समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी किसी नियत दिन या ऋतु में आनंदपूर्वक सामाजिक उत्सव करना या आमोद-प्रमोद पर्व के अनिवार्य तत्व हैं। आमतौर पर, इस प्रकार के उत्सव में भोज भी शामिल होता है।

जब दैवीय तत्त्व से जुड़े होने के कारण किसी पर्व में मोक्ष प्राप्ति के माध्यम के रूप में प्रार्थना और साधना के अनुष्ठान और उत्सव भी जुड़ते हैं तो वह पर्व धार्मिक हो जाता है। भारत में, पर्व या त्यौहार अधिकतम धर्म और जादू के अटूट क्रम की परिधि में पड़ते हैं। उनमें से कुछ की प्रकृति तो धार्मिक होती है और कुछ जादू की। अधिकतर पर्वों में धर्म और जादू दोनों का मिलाजुला पुट होता है।

दैवीय तत्त्व से जुड़े होने के कारण धार्मिक पर्व को पवित्र माना जाता है। यह एक ऐसी परंपरा है जिसने संस्कार और तत्त्वों का अनुष्ठानिक नैत्यीकरण कर दिया है। जो संस्कार और उत्सव अत्यधिक नैत्यिक और परिष्कृत होते हैं वे पुरोहित या जादू टोना करने वाले द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। लेकिन अन्य संस्कारों और उत्सवों को समूह के स्तर पर अनौपचारिक रूप से संपादित किया जा सकता है। दीपावली मनाते समय परिवार के स्तर पर देवी लक्ष्मी की पूजा उतनी अधिक नैत्यीकृत और औपचारिक नहीं होती जितनी की महाशिवरात्रि पर्व के उत्सव के समय किसी प्रतिष्ठित मंदिर में शिव पूजा होती है।

धार्मिक पर्व अपनी प्रकृति के चलते सामाजिक संबंधों के सुरक्षित तंत्र में अपना स्थान बना लेता है। सामाजिक संबधों के तंत्र के स्वरूप की यह रचना समाज के स्तर पर और/अथवा समूहों के स्तरों पर हो सकती हे। अर्थात् जैसा कि हमारे समाज में है परिवार जाति, शहर, क्षेत्र और विभिन्न प्रकार के धार्मिक समूहों के स्तरों पर ऐसा हो सकता है।

समाजशास्त्री/मानवविज्ञानी जिसे ''धार्मिक अनुभव'' कहते हैं, धार्मिक पर्व उसी की एक सामाजिक अभिव्यक्ति है। इमाइल दुर्खाइम के अनुसार ज्ञान की सीमाओं के परे जो चीजें हैं तमाम किस्म के उनके बारे में उठने वाले सवाल उस मानवीय सामाजिक अनुभव का आधार होते हैं जिसे धर्म कहते हैं।

सामाजिक होने के लिए, 'महत्व' को हमें इस अर्थ में समझना होगा कि उस पर्व को मानने वाले उसकी क्या सार्थकता समझते हैं। इसके महत्व को हमें सामाजिक संबंधों के उस सुरक्षित तंत्र के संदर्भ में समझना होगा जिसमें उक्त पर्व स्थान बनाता है। इसी सार्थकता और महत्व दोनों को व्यक्ति के समाज और संस्कृति और उस स्तर पर उनके संबंध और संरचना के संदर्भ में समझना होगा जो हमारे मस्तिष्क में है। समाजशास्त्र के विद्यार्थी के नाते अब तक आप समारोह की धारा से परिचित हो चुके होंगे जिसमें सार्थकता और महत्व दोनों शामिल हैं। संक्षेप में कहा जाए तो, समाजशास्त्र में समारोह को एक सांस्कृतिक विशेषता, एक संस्था, एक सुरक्षित सामाजिक गतिविधि और उस सुरक्षित सामाजिक तंत्र के

संचालन से संबंधित भूमिका या भूमिकापुंज के परिणामों के रूप में लिया जाता है जिससे उसका संबंध होता है या जिसका वह अंग होता है। ये परिणाम सकारात्मक या नकारात्मक या आंशिक रूप से सकारात्मक और आंशिक रूप से नकारात्मक हो सकते हैं।

7.3.2 धार्मिक पर्व का सामाजिक महत्व

अब हम इन पर्वों के सामाजिक महत्व पर नजर डालेंगे। यह बिलकुल स्पष्ट है कि समाज में धार्मिक पर्यों को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है और उसकी महत्ता समेकित है। उनका समाजीकरण की दृष्टि से भी महत्व है।

मनुष्य, प्रकृति और समाज के बीच आपसी तालमेल (Adjustment Between Man, Nature and Society)

ओ, डीया (1966 : पृ. 115) के अनुसार जीवन के वार्षिक सामाजिक चक्र में पवित्र और अपवित्र अवधियों की, उत्सव की अवधियों और काम की अवधियों की एक विशेष क्रम में आवृति होती हैं। एक ओर यदि हम अपने बसंत पंचमी, शिवरात्रि और होली जैसे पर्वों को और दूसरी ओर सांझी, करवा चौथ, दीपावली और गोवर्धन पूजा जैसे पर्यों को लें तो हम देखेंगे कि हमारे धार्मिक पर्व अधिकतर वर्षा, शीत और ग्रीष्म की नियत ऋतुओं के बीच संक्रांति की अवधियों में पड़ते हैं।

अगहन और पौष के महीनों में कोई पर्व नहीं पड़ता। इसके विपरीत गढ़वाल के जौनसार बावर, जौनपुर और खाई जैसे बहुपति प्रथा वाले क्षेत्रों में पौष माह के अंतिम दिनों में एक के बाद एक कई पर्व पड़ते हैं। इन पर्वों में नाच-गानों, खाने-पीने और मस्ती का आलम रहता है।

यहाँ की परंपरा के अनुसार, युवा विवाहित स्त्रियाँ इस शीतकालीन पर्वों में शामिल होने के लिए अपने मायके चली जाती हैं। ये पर्व आंशिक रूप से धार्मिक हैं लेकिन अधिकतर सांसारिक होते हैं और इनमें मनोरंजन और मस्ती ही हावी रहती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि उन दिनों यहां कड़ाके की ठंड और बर्फ होने के कारण कुछ स्थानों पर खेती बाड़ी का काम ठप्प रहता है।

व्यक्ति की भावनात्मक सामाजिक सुरक्षा (Emotional Social Security of the Individual)

करवा चौथ जैसे कुछ पर्वों का उद्देश्य व्यक्ति को भावनात्मक सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना है। करवा चौथ के बारे में कहा जा सकता है कि उसका कोई विशिष्ट सामूहिक चरित्र नहीं होता क्योंकि इसे केवल विवाहित स्त्रियां या किसी एक परिवार या पड़ोस की स्त्रियाँ ही मनाती हैं। इसका उद्देश्य विधवा को सामाजिक अभिशाप से मुक्ति दिलाना है। भावनात्मक सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने वाले पर्यों में जादू या तंत्र-मंत्र का भी पुट रहता है। उनका चरित्र सामूहिक हो भी सकता है और नहीं भी।

उर्वरता प्राप्त करने वाले, कृषि संबंधी और अन्य प्रकार की समृद्धि दिलाने वाले पति और पुत्र की लंबी आयु सुनिश्चित करने वाले और चेचक और हैजा जैसी बीमारियों और विपदाओं से मुक्ति के लिए देवताओं या देवियों की वार्षिक सामूहिक साधना इसी श्रेणी आती हैं।

अस्मिता, एकात्मकता, विभेदन और संघर्ष (Identity, Solidarity, Differentiation and Conflict)

सामाजिक दृष्टि से धार्मिक पर्व सामूहिक अस्मिता या पहचान और एकात्मकता और अंततः

सामूहिक और अंतर सामूहिक विभेदन और संघर्ष से भी संबंध रखते है। इससे विभिन्न किस्म के समूहों को अस्मिता और एकात्मकता भी प्राप्त होती है जैसे, कोई पंथ (धार्मिक भाईचारा), कोई जाति कोई स्थानिक समूह (गांव, क्षेत्र राष्ट्र) और कोई जातीय समूह (जैसे पारसी)।

उदाहरण के लिएः मुहर्रम से मुसलमानों की अस्मिता बनती है और गद्दी (Gadi) पंचमी से नारायणी पंथ के अनुयायियों की । करवा चौथ और सांझी अखिल भारतीय नहीं बल्कि क्षेत्रीय पर्व हैं। इसी प्रकार दलछत्ता (Dala Chhatha) मुख्य रूप से भोजपुरी क्षेत्र का पर्व है। इस पर्व में स्त्रियों की जनन शक्ति, पुत्र प्राप्ति और पुत्र की लंबी आयु की कामना की जाती है।

रविदास जयंती ने अपने अनुयायियों के सगोत्र विवाह वाले समूहों को सामाजिक रूप से एक ठोस समूह में एकताबद्ध नहीं किया है। देहरादून में रैदासी और जातीय चमार शोभा यात्रा में तो भाग लेते हैं लेकिन अन्य उत्सव अपने-अपने मोहल्लों में ही करते हैं (भट्ट, 1961)। अब तो रैदासी भी अपना उत्सव दो स्थानों पर करते हैं, भले ही वे एक ही मोहल्ले में और एक ही बस्ती में रहते हों। अब रविदास जयंती का उत्सव करने के लिए अलग-अलग संगठन होते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण (Social Stratification)

भारतीय स्थितियों में किसी धार्मिक पर्व को मनाने और सामाजिक स्तरित व्यवस्था के बीच गहरा संबंध होता है। भारत में सामाजिक स्तरीकरण में अनुक्रमबद्ध जातियां आती हैं। प्रत्येक जाति की एक परंपरागत व्यावसायिक भूमिका है। परंपरा के अनुसार जाति पर आधारित व्यावसायिक भूमिकाएं कृषि-अर्थव्यवस्था और खेतिहरों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति के अधीन रही हैं।

शहरी औद्योगीकरण के बढ़ते प्रभाव के कारण, जाति और व्यवसाय के बीच का पारंपरिक तालमेल तेजी से बदल रहा है, फिर भी ग्रामीण परिवेश में यह अभी भी देखने को मिलता है लेकिन वहां भी उसका वह मजबूत रूप नहीं रहा है। वैसे सामान्य स्थिति यह है कि ब्राह्मण पुरोहित की भूमिका निभाता है, कारीगर जातियों के लोग अपनी-अपनी जातियों में दस्तकारी संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं, और निम्न जातियों के लोग निम्न प्रकार के काम करते हैं। रामलीला के समय कई जगहों पर रावण का पुतला बनाने का काम मुसलमान कारीगर करते हैं।

सांस्कारिक कला (Ritual Art)

सांस्कारिक कला का संबंध समाज में धर्म के व्यंजनात्मक पक्ष से होता है। जैसा की सांझी और करवा चौथ के उपर्युक्त विवरण से संकेत मिलता है, किसी धार्मिक पर्व के उत्सव में कला की एक अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसे आलेखन, चित्रकला, नमूने बनाना, मूर्तिकला (पत्थर या लकड़ी से तराशा) और फूलों आदि से भी सजावट जैसी कला के विभिन्न रूप में जुड़ा हुआ देखा जा सकता है।

कलाकार विशेषज्ञ भी हो सकते हैं और गैर विशेषज्ञ भी। जहां संस्कार या अनुष्ठान किसी विशेषज्ञ के हाथों निर्देशित होते हैं और पर्व का उत्सव स्तरित ढांचे में रखा जाता है वहां प्रासंगिक कलात्मक वस्तुओं को रचाना एक या एक से अधिक विशेषज्ञों का काम हो सकता है। गढ़वाल के बहुपति प्रथा वाले क्षेत्र के एक गाँव में हनुमान, भालू और भेड़ की लकड़ी की आकृतियाँ बनाने का काम गाँव का बढ़ई करता है। अन्यथा जैसा कि सांझी और करवा चौथ के उत्सव में होता है यह काम गैर विशेषज्ञ भी कर सकता है।

बोध प्रश्न 4

i) अस्मिता, एकात्मकता, विभेदन और संघर्ष और धार्मिक पर्वों के बारे में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) सांस्कारिक कला के बारे में आप क्या जानते हैं? क्या आप इसके कुछ उदाहरण दे सकते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

अनेकता में एकता (Unity in Diversity)

हमारे जैसे बहुलवादी समाज में अनेकता में एकता की भावनात्मक स्तर पर प्राप्ति हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक नीति और दार्शनिक विश्व दर्शन है। हमारे धार्मिक पर्व भी तदनुरूप सामाजिक सांस्कृतिक सांचे में स्थित होते हैं।

सांस्कृतिक लक्षणों की तरह धार्मिक पर्वों में भी प्रसार की प्रवृत्ति होती है। यह फैलाव और क्षैतिज दोनों प्रकार से होता है। उदाहरण के लिए, शक्ति पंथ दोनों प्रकार से फैला है। क्षैतिज फैलाव की प्रक्रिया में परिणामजनक संशोधन का प्रसार, आत्मसातीकरण और एकीकरण जैसी क्रियाओं की भूमिका होती है। परिणामस्वरूप, धार्मिक पर्व के क्षेत्रीय स्वरूपों का विकास होता है। आइए इसे समझें देवी की अवधारणा का जन्म, दर्शन के स्तर पर कल्पित एक सर्वव्यापी दैवीय नारी शक्ति से होता है। लेकिन वह कई रूपों में व्यक्त होती है। जैसे, वैष्णो देवी, शाकम्भरी, कामाख्या, दुर्गा, काली, शीतला आदि। ये सभी क्षेत्रीय स्तरों पर स्थापित हैं लेकिन इन सभी को एक ही शक्ति या सत्ता का रूप माना जाता है।

शक्ति पंथ की अनेकता में एकता एक और स्तर पर व्यक्त होती है। वह स्तर हैं, क्षेत्र और आवास का स्तर। मध्य प्रदेश के मालवा क्षेत्र में सांझी का पर्व पितृपक्ष के दौरान मनाया जाता है, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पितृपक्ष के बाद में और मथुरा में यह सावन के महीने में मनाया जाता है। मालवा में सांझी एक दैवीय कुंवारी कन्या का प्रतीक है जहाँ हर साल वह अपने ससुराल के लिए विदा होती है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में, यह देवी का प्रतीक है, और बृज में राधा-कृष्ण का प्रतीक।

बुंदेलखंड (उत्तर प्रदेश) में यह मामुलिया की प्रतीक है, और महाराष्ट्र में यह गुलाबी के रूप में पूजी जाती है। पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में यह झींझिया के रूप में होती है और बंगाल में शक्तिशाली दुर्गा के रूप में। तमिलनाडू में यह गुड़ियों का पर्व बन जाता है। गुजरात में इसे ज़ोरदार गरबा पर्व के रूप में धूमधाम के साथ मनाया जाता है और शक्ति पंथ के इन सभी क्षेत्रीय रूपों में युवा अविवाहित लड़कियों की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

7.4 सारांश

इस इकाई में हमने पढ़ा कि किस प्रकार धार्मिक पर्व और तीर्थयात्रा द्वारा लोग प्रार्थना करते हैं। यह जाना की तीर्थयात्राएँ क्या हैं? इसमें तीर्थयात्राओं की परिभाषा, मंदिर जाना और पुण्यजनक पक्ष आदि पर भी हमने गौर किया। इसमें हमने तीर्थ के संस्थात्मक पक्षों और उसकी पवित्रता पर भी चर्चा की। तीर्थस्थलों, तीर्थ में शुभ-अशुभ के विचार और उसकी सांक्रांतिकता के विषय की भी समीक्षा की गई। फिर हमने टर्नर द्वारा किये गये तीर्थयात्राओं के वर्गीकरण, भारत में तीर्थयात्राओं और हज की व्याख्याओं पर भी विचार किया। अंत में हमने तीर्थयात्राओं के सामाजिक महत्व पर ध्यान केंद्रित किया। इसमें टर्नर की अभिधारणा, सांक्रांतिक एकीकरण, कला एवं शिक्षा को शामिल किया गया। इसके अंतर्गत तीर्थयात्राओं के सामाजिक, राजनीतिक पक्ष और अर्थव्यवस्था को भी लिया गया। इस प्रकार हमने इस विषय पर पर्याप्त चर्चा की है। हमने पढ़ा कि धार्मिक पर्व क्या होता है। हमने धार्मिक पर्व के सामाजिक महत्व का भी विश्लेषण किया। हमने संस्कृति, प्रकृति और समाज के बीच तालमेल पर प्रकाश डाला। इसके बाद हमने व्यक्ति की भावनात्मक और सामाजिक सुरक्षा के बारे में चर्चा की। इसके अलावा, हमने अस्मिता, एकात्मता, विभेदन और संघर्ष के बाद स्तरीकरण के मुद्दों पर विचार किया। इस इकाई में हमने धार्मिक पर्वों के उत्सव के संबंध में सांस्कारिक कला और अनेकता में एकता की चर्चा भी की।

7.5 संदर्भ

अग्रवाल, बी.सी., 1980 *''कल्चरल कंटूर्स ऑफ रिलीजन एंड इकॉनॉमिक्स इन ए हिन्दू यूनीवर्स''*, नई दिल्लीः नेशनल

झा, माखन (संपा.) 1985, *"डाइमेंषंस ऑफ पिलग्रिमेज''*, नई दिल्लीः इंटर इंडिया पब्लिकेशन

मदान, टी.एन. (संपा.) 1991, *''रिलीजन इन इंडिया''*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसः दिल्ली

सरस्वती, वैद्यनाथ, 1975, "काशी : मिथ एंड रियलटी ऑफ ए क्लासिकल कल्चरल ट्रैडीशन, शिमलाः इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडी

भट्ट, जी. एस., 1961, *''ट्रेंड्स एंड मेजर्स ऑफ स्टेटस मोबीलिटी अमंग द चमार्स ऑफ देहरादून''*, दि ईस्टर्न एंथ्रोपोलॉजिस्ट, xiv, 3, लखनऊ, ई.एफ.सी.एस.

जॉनसन, हैरी एम., 1968 *''सोशियोलॉजी, ए सिस्टमैटिक इंट्रोडक्शन''* लंदन : सतलेज एंड केगा पॉल (अध्याय 15 और 17)

मलिनॉस्की, ब्रॉनिस्ला, 1954, *"मैजिक, साइंस एंड रिलीजन''* डबलडे ऐंकर बुक्स, गार्डन सिटी

माथुर, के. एस., 1961 मीनिंग ऑफ हिन्दुइज्म इन ए मालवा विलेज, इन ''आस्पेक्ट्स ऑफ रिलीजन इन इंडियन सोसाइटी'' (संपा) विद्यार्थी एल. पी.,रांची : जर्नल ऑफ सोशल रिसर्च IV/1-2, सी.एस.सी.आर.

नटराजन, एस. 1959 *''ए सेंचुरी ऑफ सोशल रिफॉर्म इन इंडिया* '', बंबईः एशिया पब्लिकेशंस

ओ. डी. थॉमस एफ. 1966, *''द सोशियोलॉजी ऑफ रिलीजन''*, नई दिल्ली : प्रेंटिस हॉल

वाइजर, डब्ल्यू. एच. 1958, *''द हिन्दू जजमानी सिस्टम''*, लखनऊः लखनऊ पब्लिशिंग हाउस

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय पाठ्यसामग्री (2005) *समाज और धर्म* (ESO 15), नई दिल्ली, इग्नू।

7.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) टर्नर द्वारा दर्शाए गए तीर्थ हैं:

   i) पुराकालीन तीर्थ

   ii) आदिप्ररूपीय तीर्थ

   iii) स्वर्णकालीन तीर्थ

   iv) आधुनिक तीर्थ

ii) भारत की तीर्थयात्राएँ पवित्र भी हैं और सतत भी। तीर्थों को पावन साहित्य ने महिमा मंडित किया। पवित्र स्थलों पर चढ़ाई गई भेंट पुरोहितों की अजीविका का स्रोत होती है। वे तीर्थ परंपरा के संरक्षक और पुनर्व्याख्याति मूल्यों और विश्वासों के प्रचारक होते है। भारत सरकार इन स्थलों पर सभी प्रकार की संभव सुविधाएँ और आश्रय दे रही है। भारत सरकार इन स्थलों का उपयोग अपने परिवार नियोजन के कार्यक्रमों के लिए और कृषि तथा औद्योगिक उत्पादकों की प्रदर्शनी के लिए भी कर रही है।

बोध प्रश्न 2

i) संरचना वाली स्थिति में हमें यह देखने को मिलता है कि लोगों में परिस्थिति और पद के आधार पर भेद किया जाता है। यह अक्सर श्रेणीबद्ध रूप में व्यक्त होता है। दूसरी ओर बिरादरी संरचना को तोड़ती है और मूलभूत एकता के बंधनों का निर्माण करती है।

ii) तीर्थयात्रा सामाजिक सांस्कृतिक एकीकरण करती है। उदाहरण के लिए, बनारस में तमिल, मराठी, बंगाली और पंजाबी आदि सभी क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व होता है। अनेक सामाजिक बंधन बनते हैं। उनमें से कुछ राष्ट्रीय सीमाओं से परे होते हैं।

बोध प्रश्न 3

i) तीर्थयात्रा के दौरान लोगों का विविध क्षेत्रों से आए अलग-अलग सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि वाले व्यक्तियों के साथ परस्पर सपंर्क होता है। इस परस्पर संपर्क से उन्हें क्षेत्रों के लोगों के बारे में उनकी जीवन षैलियों और प्रथाओं के बारे में जानने का अवसर प्राप्त होता है।

ii) अधिकांश तीर्थस्थानों पर अक्सर ऐसे प्रदर्शन होते हैं जिनमें नाटक नृत्य-गायन और वादन जैसी प्रदर्शन कलाओं के प्रसार के लिए पर्याप्त अवसर होता है। इसके अतिरिक्त अनेक मंदिर वस्तुकला के अनूठे उदाहरण हैं और उनमें सुंदर चित्र और शिल्प होते हैं।

iii) बुनियादी तौर पर तीर्थस्थानों में तीर्थयात्रियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाजार बन जाते हैं। तीर्थयात्राओं में राह पर निकले तीर्थयात्रियों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रावधान होते हैं। दैनिक आवश्यकता के अतिरिक्त पूजा और अन्य कर्मकांडों के लिए आवश्यक सामग्री उपलब्ध कराना भी दुकानों के बन जाने का एक कारण है। इसके अतिरिक्त मनोरंजन के लिए तीर्थस्थलों के अंदर और उनके. आसपास विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाएं की जाती हैं।

i) धार्मिक पर्वों का संबंध सामूहिक अस्मिता और एकात्मकता और सामूहिक विभेदन और संघर्ष से होता है। उदाहरण के लिए, मुहर्रम मुसलमानों को अस्मिता देता है और बसंत पंचमी का गद्दी पर्व शिवनारायणी पंथ के अनुयायियों की अस्मिता का प्रतीक है। मुहर्रम का उत्सव शिया और सुन्नी मुसलमानों में विभेदन से जुड़ा है।

ii) सांस्कारिक कला वह होती है जिसका अभ्यास धर्म और समाज के संदर्भ में किया गया है। इसके उदाहरण हैंय देवी सांझी की मिट्टी की प्रतिमा, मुहर्रम पर ताजिया निकालना और करवा चौथ के दिन करवा बनाना।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 8 धर्म, मत और पंथ*

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 धार्मिक समूहों को समझना

8.3 धार्मिक समूहों की उत्पत्ति

8.3.1 सामाजिक कारक

8.3.2 विकास प्रक्रिया

8.3.3 सार्वभौमिक विशेषताएँ

8.4 धर्म संस्था (चर्च)- मत वर्गीकरण

8.4.1 धर्म संस्था (Ecclesia) (चर्च)

8.4.2 मत

8.4.3 संप्रदाय

8.4.4 पंथ

8.5 भारत में धार्मिक समूह

8.5.1 मठ, मार्ग और संप्रदाय

8.5.2 संघ

8.5.3 मठ

8.5.4 पंथ

8.6 सारांश

8.7 संदर्भ

8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- भारत व पश्चिमी संदर्भ में विभिन्न धार्मिक संगठनों से परिचित हो सकेंगे;
- धार्मिक संगठनों की उत्पत्ति, उनके विकास एवं सामाजिक कार्यों के बारे में समझ विकसित कर सकेंगे;
- भारत तथा पश्चिमी धार्मिक संगठनों का तुलनात्मक अध्ययन कर सकेंगे; और
- विश्लेषण कर सकेंगे कि क्या पश्चिमी समाजशास्त्रियों द्वारा भारतीय धार्मिक संगठन उन्हें समझने के लिए पर्याप्त हैं।

8.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम धार्मिक संगठनों की धर्म के महत्वपूर्ण तत्व के रूप में विवेचना करेंगे। हम आशा करते हैं कि इससे आप तुलनात्मक, परिदृश्य रचने में सफल हो सकेंगे। इस इकाई

*इग्नू पाठ्यसामग्री, से अंगीकृत *समाज और धर्म* (ESO-15) की इकाई 12 जी.एस. भट्ट द्वारा रचित से नीता माथुर द्वारा संशोधन

में धार्मिक संगठनों की उत्पत्ति, उनके विकास कार्य व गतिशीलता की भी व्याख्या की गई है। हमें आशा है कि यह चर्चा आदर्श व वास्तविक के बीच के परस्पर गतिशील संबंध को समझने में भी आपकी सहायता करेगी।

8.2 धार्मिक समूहों को समझना (Understanding Religious Groups)

धर्म केवल विश्वास का प्रत्यक्ष रूप ही नहीं है वरन इसका पालन भी किया जाता है। विश्व के लगभग सभी प्रमुख धर्म व्यवस्थित रूप में पाए जाते हैं। कुछ धर्म किसी एक चमत्कारिक व्यक्तित्व (उदाहरण के लिए-ईसा मसीह, व गौतम बुद्ध) के धार्मिक अनुभव से उत्पन्न होते हैं। चमत्कारी व्यक्तित्व का यह धार्मिक अनुभव कालान्तर में संगठित एवं संस्थागत रूप धारण कर लेता है। इसके विकास के तीन चरण हैं। (1) पूजा उपासना की पद्धति का निर्धारण; (2) विचारों एवं परिभाषाओं की स्थापना - मिथक एवं आध्यात्मिक विद्या विकास; तथा (3) संघ व संगठन की स्थापना । मूल धार्मिक अनुभव की विवेचना भी इससे जोड़ी जा सकती है।

समाजशास्त्री चार प्रकार के धार्मिक समूहों की चर्चा करते हैं - धर्म संस्था (चर्च), मत, संप्रदाय व पंथ। धर्म संस्था या मत वर्गीकरण के रूप में धार्मिक समूहों के इस विभाजन का आधार मैक्स वेबर और ईरनेस्ट ट्रोल्श के कार्य व पश्चिम में ईसाई मत का विकास है।

क्या यह ईसाई धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों व धार्मिक, सामाजिक समूहों की व्याख्या करने में मदद करता है? इस संबंध में प्रचलित सामाजिक निर्णय न्यूनाधिक जाति केन्द्रित, भ्रमवाचक व परस्पर विरोध लिए हुए हैं। कुछ की धारणा के अनुसार कुछ निश्चित परिवर्तनों के बाद यह वर्गीकरण सर्वमान्य हो सकता है। (मोबर्ग : 1961) जबकि कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार ऐसा नहीं हो सकता (भट्ट : 1969)। जॉनसन के अनुसार इस वर्गीकरण का समालोचना के उद्देश्य से सरलता से उपयोग किया जा सकता है। यद्यपि पूर्वी धर्मों की व्याख्या के लिए वे भी इसे कुछ हद तक अटपटा मानते हैं। भारत में हम धार्मिक समूहों को मत, मार्ग, संप्रदाय, पंथ, समाज , आश्रम तथा अखाड़ा के रूप में पहचानते हैं। यहाँ हमारे सामने एक समस्या आती है कि क्या हम भारत के धार्मिक समूहों की व्याख्या चर्च-मत वर्गीकरण के आधार पर कर सकते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए हमें धार्मिक समूहों को सामाजिक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। साथ ही हमें धार्मिक समूहों की उत्पत्ति का भी विश्लेषण करना होगा। भारत की विशिष्टता पर बहुत बल न देते हुए भी हमें दो धार्मिक अनुभवों की परम्पराओं के अंतर को ध्यान में रखना है - मध्यपूर्व केंद्रित, जिससे ईसाई धर्म तथा इस्लाम का विकास हुआ तथा नैतिवाद - अनेकतावाद (धार्मिक अनेकवाद की परम्परा) का विकास हुआ; जिसमें से भारत में धार्मिक समूहों का विकास हुआ। आइए हम इसकी थोड़ी और व्याख्या करें। जैसा कि हमने ऊपर चर्चा की है, अब आप ईसाई परम्परा से जुड़ी धार्मिक धारणाओं को पहले से ही पहचान सकते हैं। जहाँ तक संगठनों का संबंध है, ऐसी धारणाएं असल में हर संगठन में एक दूसरे से बिल्कुल अलग होती हैं।

मध्यपूर्वी परम्परा के अनुसार धार्मिक अनुभव ईश्वर के आदेश तथा रहस्य की खोज के रूप में जाने जाते हैं। दैवीय शक्ति द्वारा चुने मध्यस्थ -मानव (पैगम्बर) के द्वारा आम मनुष्यों को धर्म का प्रकाश भेजने की धारणा के कारण मध्यपूर्व परंपरा में एकवाद परिलक्षित होता है। यह इस प्रकार के धर्म के संगठन व फैलाव में मदद करता है। पर कभी कभी इसका राजनीतिक शक्ति व अन्य धर्मों से टकराव भी हो जाता है।

दूसरी परम्परा के अनुसार कोई भी धार्मिक अनुभव अंतिम नहीं है। ईश्वर तक पहुंचने के कई रास्ते हो सकते हैं तथा हैं भी। भारत में ये दोनों परम्पराएं समानान्तर रूप से तथा एक दूसरे से टकराते हुए विकसित हुई हैं। हाँ एक ओर एकवादी तथा अनेकवादी धर्मों के बीच सामाजिक-ऐतिहासिक अंतर है वहीं समाजशास्त्रियों के अनुसार धार्मिक संगठनों की अपनी कुछ चारित्रिक विशेषताएं हैं जिन्हें तुलना के लिए आधार बनाया जा सकता है।

जॉनसन (1968 : 419-20) धार्मिक समूहों की तुलना के लिए सात-सूत्रीय मानदंड का सुझाव देते हैं। आपकी जानकारी के लिए संक्षेप में हम इन्हें नीचे दे रहे हैं, क्योंकि आपके लिए धार्मिक समूहों की व्याख्या करने में इनका उपयोग किया गया है।

i) समूह की सदस्यता : अनिवार्य अथवा स्वैच्छिक;

ii) यदि स्वैच्छिक नए सदस्यों के लिए पूर्णतया या आंशिक रूप से उपलब्ध;

iii) समूह का अन्य धार्मिक समूहों के प्रति रवैया;

iv) समूह धर्म परिवर्तन की अनुमति देता है अथवा नहीं;

v) आंतरिक संगठनः प्रजातांत्रिक तथा एकाधिकारवादी;

vi) पादरी/पुरोहितः क्या पुरोहित सामान्य सदस्यों के उद्धार के लिए आवश्यक माना जाता है;

vii) समूह का रवैया पूरे समाज के धर्मनिरपेक्ष कृत्यों के प्रति क्या है ? धार्मिक समूहों के तुलनात्मक अध्ययन में ऐसे मानदंडों का प्रयोग किया जा सकता है।

8.3 धार्मिक समूहों की उत्पत्ति (The Genesis of Religious Groups)

मोटे तौर पर हम धर्म को विश्वास तथा रीतियों की पद्वति के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। यह लोगों में सामान्य रूप से स्वीकार्य होती है तथा बीतते समय के साथ जीवित भी रहती है। सामान्य रूप से स्वीकार्य तथा समान रीति के रूप में धर्म अपने आप को संगत व व्यवस्थित रूप में संगठित करता है। आगे के अनुभागों में हम उस स्थिति को समझने का प्रयास करेंगे जिसमें से निर्धारित समयावधि में धार्मिक समूहों की उत्पत्ति होती है तथा जिसके कारण वे बने रहते हैं।

8.3.1 सामाजिक कारक (Social Factors)

धार्मिक संगठनों की उत्पत्ति का कारण सामाजिक समूहों में निहित है जो कि समाज का एक अंग है। इसकी उत्पत्ति चमत्कार के संस्थागत व नियमगत होने में तथा समाज के ढांचागत विभाजन में भी निहित है। किसी धार्मिक संगठन का ठोस आधार अक्सर संस्थापक द्वारा नहीं वरन शिष्यों द्वारा रखा जाता है। उसके धार्मिक अनुभव मार्गदर्शन का कार्य करते हैं।

धार्मिक संगठन के प्रवर्तक की मृत्यु निरंतरता तथा उत्तराधिकार की समस्या खड़ी कर देती है। जिस तरह से इस समस्या को सुलझाया जाता है उससे संगठन की आगे की व्यवस्था पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इस समूह की पृष्ठभूमि, जिसमें प्रवर्तक ने कार्य किया, इसके सदस्य व राजनीतिक ढांचा तथा अनुयायियों की आदर्शवादी तथा भौतिकवादी अभिरुचियां विशेषकर उसके नेता तथा प्रवर्तक की शिक्षाएं-धार्मिक समूह की संरचना को प्रभावित करते हैं।

निरंतरता की समस्या को सामान्यतः संस्थापक के कथनों, उपदेशों, शिक्षाओं तथा कृत्यों को एकत्रित, अभिलेखित व संप्रेषित कर सुलझाया जाता है। बाइबिल, ईसा मसीह व मोहम्मद के मृत्यु के बहुत बाद सामने आया पर सामाजिक तौर पर अधिक महत्वपूर्ण है पूजा-उपासना की पद्धति की उत्पत्ति, पंथागत दर्शन जो कि उस धार्मिक समूह विशेष से जुड़े लोगो को प्रेरित करते हैं व आपस में बांधते हैं।

उत्तराधिकार की समस्या कई प्रकार से सुलझाई जा सकती है - विरासत के प्रचलित नियम के द्वारा (प्रायः ज्येश्ठ संतान) अथवा शिष्यों में आम सहमति द्वारा अथवा नियुक्ति द्वारा अथवा शिष्यों/सहचरों/समूह के सदस्यों में गद्दी के लिए संघर्ष के द्वारा। यह बहुत कुछ स्थिति की गंभीरता पर निर्भर करता है। यहाँ हम कह सकते हैं कि धार्मिक समूह में गद्दी सौंपना या उत्तराधिकारी बनना आमतौर पर इतना आसान और समुचित नहीं होता। इससे पहले की उत्तराधिकारी का फैसला हो या नेतृत्व या सत्ता हासिल करने वाले गुटों द्वारा यह तय किया जाए, समूह के भीतर ही अंतःद्वंद उत्पन्न हो सकते हैं।

8.3.2 विकास प्रक्रिया (Development Process)

पंथ की संरचना इस प्रक्रिया का एक चरण है। दूसरा चरण है मिथकों तथा आध्यात्मिक ज्ञान संबंधी दृष्टिकोण की संरचना। समूह की संरचना तीसरा चरण है। ये तीनों चरण साथ-साथ तथा पारस्परिक संबंध रखते हुए कार्य करते हैं। मिथक एक नाटकीय कहानी है जिसमें दैवीय शक्ति सांसारिक व्यक्तियों से सांसारिक व्यक्ति के रूप में ही संबंध स्थापित करती है। मिथक पंथ पद्धति में विश्वास को अधिक दृढ़ करता है। आध्यात्मिक ज्ञान विकास की प्रक्रिया को अधिक तर्कसंगत बनाता है। दोनों ही धर्म की तर्कसंगतता को बौद्धिक परिवेश प्रदान करते हैं। आध्यात्मिक ज्ञान का विकास व्यावसायिक पुजारी वर्ग-धर्म विशेषज्ञ के विकास के साथ चलता है। आध्यात्मिक ज्ञान के साथ ही नैतिक संहिता का विकास होता है। (ओ. डी. 1969 : 41-46)

आध्यात्मिक ज्ञान धार्मिक अंधविश्वास के रूप में विकसित हो सकता है। परिणामस्वरूप यह बहुधा वर्ग परिवर्तन तथा शक्ति तंत्र की क्रियाओं से टकराव की स्थिति में आ जाता है। यह विरोध तथा विभिन्न व्याख्याओं को जन्म देने की विशेषता रखता है। अतः यह धर्म, भेद तथा खंडनों को जन्म देता है जिनका संबंध अक्सर सामान्य लोगों अथवा जनसाधारण तथा विद्वानों दोनों के स्वार्थों से होता है।

जब किसी पंथ का विकास होता है तथा पूजा, रीति के नियमों, दीक्षा तथा सदस्यता के नियमों का प्रमाणीकरण होता है तथा निरंतरता व उत्तराधिकार और सिद्धांत संबंधी विषयों की समस्याओं के निवारण के लिए व इसके प्रसार संबंधी नियमों का निर्धारण होता है, तब यह कहा जा सकता है कि इसने धार्मिक संगठन का रूप ले लिया है। पूजा की पद्धति तथा विश्वास की तर्कसंगतता इसकी सीमा का निर्धारण करती है।

कोई धार्मिक समूह एक प्राथमिक समूह के रूप में उत्पन्न होता है तथा मानव जाति को धर्म को मानने वालों तथा न मानने वालों के बीच विभाजित कर देता है। परंतु यह सम्पूर्ण समाज तथा समूह विशेष की आंतरिक विसंगतियों के कारण व धार्मिक अनुभव संबंधी ज्ञान में वृद्धि के कारण भी विकसित होता है तथा अनेक रूप से बढ़ता है। धार्मिक विशेषज्ञों तथा पुरोहित आदि के उभरने से जनसाधारण तथा पुरोहित के बीच संस्थागत अलगाव उत्पन्न होता है। पुरोहित की उपस्थिति प्रबंधकीय कार्यालयों की सत्ता की देन है, जिसमें नौकरशाही के गुण निहित होते हैं। कार्यालय अथवा गद्दी न कि इसका धारक दैवीय शक्ति से युक्त होता है।

8.3.3 सार्वभौमिक विशेषताएं (Universal Features)

अपनी रीतियों के कारण विशिष्ट पहचान लिए धार्मिक समूह बंधुत्व व एकता की नयी भावना का प्रदर्शन करता है। फिर भी, यह स्थिति व कार्यप्रणाली पर आधारित भेदों से साम्य स्थापित करता है तथा वांछित अवस्थाओं की क्रिया पद्धति को सहन करता है।

क्रांतिकारी चरित्र लिए हुए धार्मिक समूह प्रतिष्ठित समाज को स्वीकार भी कर सकता है और यह इसका वैचारिक धरातल पर तिरस्कार भी कर सकता है ताकि समूह के अंदर समानता का रूख विकसित किया जा सके जैसा बौद्ध धर्म में हुआ। इसने रूढ़िवादी व परम्परागत समाज का विरोध किया तथा समानता को एक आदर्श रूप में अपनाया। धार्मिक समूह का आंतरिक ढ़ांचा एक सक्रिय प्रक्रिया है। यह दो स्तरों पर कार्य करता है। एक तरफ तो यह आंतरिक भिन्नताओं को समाप्त करता है तथा दूसरी तरफ अपने को संगठित व संस्थागत रूप प्रदान करता है।

सोचिए और करिए 1

अपने धर्म में किसी धार्मिक समूह को पहचानें तथा उसकी सामूहिक विशेषताओं का विश्लेषण करें। अपने अध्ययन केंद्र के अन्य सहपाठियों से अपने विचारों का मिलान करे।

8.4 धर्म संस्था (चर्च).मत वर्गीकरण (The Church - Sect Typology)

जब कोई धार्मिक समूह अपने विश्वास व नीतियां निर्धारित करता है तथा संगठित रूप में इनको व्यवहार में लाता है तो वह निश्चित धार्मिक संगठन के रूप में सामने आता है। उसी समय धार्मिक समूह में आंतरिक मतभेदों के कारण, विभिन्न शाखाएं भी उभरती हैं। इस अनुभाग में हम धर्म संस्था, मत व पंथ की प्रक्रिया को समझने का प्रयास करेंगे।

8.4.1 धर्म संस्था (Ecclesia) (चर्च)

चर्च की स्थापना बाइबिल में वर्णित ईसा मसीह के धार्मिक अनुभव के आधार पर हुई। धर्म संस्था में ईसा मसीह को मानव व ईश्वर के पारलौकिक मध्यस्थ के रूप में स्वीकार करने के कारण उनका धार्मिक अनुभव सभी रहस्यों को खोलने वाला तथा भ्रांतियों से परे है। क्योंकि यह ज्ञान मानव जाति के उद्धार के लिए है अतः मानव को इसे अपनाना चाहिए। मनुष्यों द्वारा इसका अनुसरण किया जाना चाहिए तथा इसमें विश्वास न रखने वालों को दंडित अथवा बहिष्कृत किया जाना चाहिए।

सैद्धांतिक व संकीर्ण दृष्टिकोण ने धर्म संस्था को अत्यधिक धर्म प्रवर्तकों का धर्म बना दिया है। यहाँ तक की राजा राममोहन राय ने ईसा तथा ईसाई धर्म के उपदेशों तथा धर्मप्रचारकों के क्रियाकलापों में स्पष्ट भेद किया है। (सरकार, बी.के. 1937 : 619-624; भट्ट, 1968 : 34) चूंकि इसे संगठित किया जा सकता था तथा इसमें विभिन्न लोगों को परिवर्तित किया जा सकता था अतः राष्ट्रीय, प्रांतीय व स्थानीय विशिष्टिताओं के साथ अन्तर्राष्ट्रीय धर्म के रूप में विकसित हुआ।

जन सामान्य व पुरोहितों (पादरी) के बीच संगठनात्मक भेद के कारण धर्म संस्था शिष्यात्मक रूप लिए हुए है। पुरोहित वर्ग में ईसाई धर्म के संचालकों का समावेश है। उन्हें शिक्षा दी जाती है, उनका चुनाव होता है तथा उनकी नियुक्ति होती है, उन्हें प्रदत्त कार्यालयों के ढांचे

में जोड़ा जाता है। इनकी कार्यप्रणाली नौकरशाही का गुण लिए हुए है। पादरी बनना एक व्यवसाय या पेशा है। पुरोहित वर्ग का सदस्य अपने धार्मिक गुण उस गद्दी से प्राप्त करता है जिसे वह नियुक्ति तथा धार्मिक आदेश के रूप में प्राप्त होने के कारण ग्रहण करता है। निस्संदेह समूची व्यवस्था अपनी कार्यप्रणाली के नजरिए से श्रेणीबद्ध और नौकरशाही है।

पादरी व उसका पद धर्म संस्था के लिए महत्वपूर्ण केन्द्र है। अपने कार्यक्षेत्र में आने वाले जनसामान्य के लिए आध्यात्मिक-धार्मिक व संरक्षक के रूप में मान्यता प्राप्त होने के कारण पादरी स्वीकारोक्ति को सुनने तथा पापों से क्षमा देने का कार्य कर सकता है। वह विवाह सम्पन्न कराता है तथा चर्च के सदस्यों को धर्मेतर कार्यों में भी सलाह देता है। इसका मुख्य कार्य उपदेश देना तथा धर्म परिवर्तन कराना है।

ऐतिहासिक तौर पर चर्च में भी पादरी के सर्वस्व अधिकार को स्वीकार व अस्वीकार करने वालों के परस्पर संघर्ष की विशिष्टता है। 'सर्वस्व अधिकार' का जन्म इस धारणा के कारण हुआ है कि ईश्वर को सामान्य मानवीय ज्ञान के द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता। इनका मूल पाप में विश्वास भी एक कारण है। 'मूलपाप' की धारणा के कारण जिसने यौन क्रिया के प्रति भ्रम व चिंता को जन्म दिया। ईश्वर की सेवा के मार्ग पर स्वःत्याग एक प्राथमिक आवश्यकता है। चर्च, पादरी तथा वैराग्य धार्मिक प्राधिकार का प्रतीक बने, तथापि चर्च पुरुषों और स्त्रियों दोनों के लिए खुला था।

पादरी के सर्वाधिकार का विरोध करने वालों प्रोटेस्टेंट के अनुसार ईश्वर तथा संसार अलग है । संसार को वास्तविकता-मनुष्य द्वारा सांसारिक क्रियाओं और उपलब्धियों का कार्यक्षेत्र के रूप में स्वीकारा गया । परोपकारी सामाजिक कार्य व बड़े परोपकारी-धर्माथ संस्थानों का प्रबंध चर्च का ही कार्य माना गया तथा तब से यह चर्च की ही विशेषता बनी हुई है। इस तालमेल की प्रक्रिया के कारण तपस्वी पादरियों में तथा पादरी तपस्वियों में समाहित हो गए। दोनों ने मिलकर बजाए दो वर्ग अर्थात धार्मिक मनुष्य (पादरी) और जनसाधारण बनाने के, मिलकर चर्च की सर्जना की।

चुने हुए व नियुक्त पदों को मिला कर चर्च का एक स्व-नियंत्रित एक संघीय ढांचे के रूप में विकास व विस्तार हुआ। इसका मुखिया पोप, नियुक्त पदाधिकारियों के एक छोटे समूह के बीच से चुना जाता है। इस पदीय-ढांचे के अन्य अधिकारी नियुक्त किए जाते हैं। इनमें से भी पादरी का ही पद सही मायनों में धार्मिक है तथा अन्य सभी पद प्रबंधकीय हैं।

चर्च अपने कर्मियों की शिक्षा तथा नियुक्ति का कार्य अपने धार्मिक शिक्षा संस्थानों द्वारा करता है। इसकी अधिक विशिष्ट परिभाषा हेतु यह, अनुसंधान संस्थान, शिक्षण केंद्र, विचार-गोष्ठी तथा कार्यशाला आदि का आयोजन भी करता है। यह पत्रों के प्रकाशन, मुद्रण सुविधाओं व प्रकाशन गृहों के संचालन का कार्य भी करता है। यह धर्मेतर शिक्षा के लिए विद्यालय व महाविद्यालयों की स्थापना व प्रबंधन भी करता है। जहाँ धर्मेतर शिक्षा के साथ धार्मिक शिक्षा को 'ईश्वरीय ज्ञान' के प्रसार के लिए प्राथमिकता दी जाती है।

आध्यात्मिक ज्ञान के प्रसार के साथ चर्च संपत्ति व अन्य सांसारिक शक्तियों में भी अपनी अभिरुचि का विकास करता है। यह स्थापित सामाजिक तंत्र में भी रुचि लेता है। इसकी शक्ति, संपत्ति, विशेषाधिकारों तथा प्राथमिकताओं को विधिगत मान्यता प्रदान करता है। धर्मेतर मामलों में चर्च की यह रुचि इसके धर्मेतर-राजनीतिक तंत्र के साथ संघर्ष का कारण बनती है तथा धर्मभेद को जन्म देती है जैसा इंगलैण्ड के चर्च के विकास के संदर्भ में हुआ।

चर्च का धर्मेतर रूझान पादरी वर्ग को अधिक रूढ़िवादी बनाता है। यह भी संघर्ष की स्थिति को जन्म दे सकता है। पर धर्मेतर संसार से संघर्ष चर्च की प्रमुख विशेषताओं में से नहीं है।

अधिकांशतः चर्च धर्मेतर-राजनीतिक संसार से सामंजस्य स्थापित कर अपने को धर्मेतर जीवन के अनुरूप ढाल लेते हैं।

8.4.2 मत (Sect)

धार्मिक समूह के रूप में मत उन लोगों का संगठन है जो स्थापित धर्म संस्था द्वारा प्रस्तुत सिद्धांत की व्याख्या से विरोध रख कर सुनिश्चित धारणा के साथ चलते हैं। इसका आदर्श रूप धर्म संस्था से बिल्कुल भिन्न होता है। यद्यपि इसमें धर्म संस्था के कुछ गुण पाए जाते है, धर्म संस्था की तरह इसकी सदस्यता अनिवार्य नहीं है। यह स्वैच्छिक, विशिष्ट व बहुधा सात अनुसार निर्धारित होती है। असल में मत की उत्पत्ति होती है जब सामाजिक स्थिति और धार्मिक सिद्धांतों से जुड़े कई मतभेदों के कारण लोग चर्च का विरोध करते हैं। ये मतभेद दर्शाते हैं कि स्पष्ट रूप से ऐसे मत के निजी धार्मिक सिद्धांत और मूल्य होते हैं।

मत स्वतंत्र सार्वभौमिक परिवर्तन का अनुमोदन नहीं करता। इसके अनुसार ईश्वर की कृपा सबके लिए नहीं है और न ही ये अपने आप प्राप्त हो जाती है। यह व्यक्ति विशेष द्वारा व्यक्तिगत विश्वास तथा आदर्श द्वारा अर्जित की जाती है। अतः मत धार्मिक प्रवर्तकों के परिष्कृत मौखिक कथनों के प्रति अरुचि रखता है (जानसन : वही : 427)

बहुधा मत अन्य धार्मिक समूहों के प्रति असहिष्णु होता है। यह धर्म परिवर्तन को मान्यता दे भी सकता है नहीं भी। पादरी वर्ग तथा जन-सामान्य के बीच के भेद का नाष इसकी मुख्य विशेषता है। अपने संगठन में, मत प्रायः प्रजातांत्रिक होता है। यह सांसारिक व पारलौकिक दोनों हो सकता है।

मत का जन्म विरोध व क्रांति के फलस्वरूप होता है। राजनीतिक तंत्र से इसका संबंध अच्छा या बुरा हो सकता है। व्यवस्था के विपरीत होने के कारण इसे दंडित भी किया जा सकता है। जॉनसन के विचारानुसार, मत का क्रांतिकारी रवैया बहुधा निराशा की स्थिति की ओर ले जाता है।

मतवाद की ईसाई धर्म में भर्त्सना की गई है, ऐसा कहा गया है कि इसका उद्देश्य ईसाई परम्परा में ही निहित है। ईसाई धर्म का अपना विकास भी विरोध के परिणामस्वरूप हुआ जैसा मत के साथ होता है। ईसाई मतों का विकास मुख्यतः तीव्र व्यक्तिवाद के मूल्य, प्रेम व बंधुत्व के आदर्श, के समर्थन व गरीबों के प्रति विशेष चिंता के लिए हुआ।

चर्च के इस विचार का विरोध कि धार्मिक प्राधिकार, पद तथा रीतियों के अनुसरण में निहित है न कि मानव आत्मा में, ईसाई धर्म में मतवाद के विकास का एक अन्य कारण बना। एक तीसरा कारण उन सामाजिक संस्थाओं के प्रति विरोध है जिन्हें चर्च समर्थन देता है। मत सामाजिक न्याय की अभिव्यक्ति है। गरीबों के प्रति अनभिज्ञता तथा प्रवचनों की पवित्रता संबंधी प्रश्नों ने बहुधा अन्याय की भावना, अप्रसन्नता व असंतोष को जन्म दिया।

मत पूर्ण समाज नहीं वरन् इसके एक भाग को अपनी परिधि में लेता है। आसानी से पहचान पा लेने के कारण यह अपने सदस्यों में अधिक आत्म सम्मान की भावना जागष्त कर पाता है, अतः इसकी प्रासंगिकता पैदा होती है जितना इसका विरोध व आलोचना होती है उतना ही मत का मान सम्मान व आंतरिक एकता बढ़ती है। एक विद्रोही मत को दंडित करने से इसके आत्म सम्मान व आंतरिक एकता में वृद्धि होती है।

8.4.3 संप्रदाय (Denomination)

संप्रदाय मत में से विकसित होता है, जिस प्रकार मत धर्म संस्था में से विकसित होता है। जॉनसन के विचारानुसार धर्म संस्था व संप्रदाय के बीच का भेद सदैव स्पष्ट नहीं होता जिस प्रकार मत व पंथ के बीच का। जब एक मत मध्यवर्गीय समाज में सम्मानीय स्थान प्राप्त कर लेता है तथा इसकी धार्मिक प्रचंडता में कुछ कमी आ जाती है तब इसके परिणामस्वरूप संप्रदाय का आविर्भाव होता है। (वही : पृ. 433-35) यह भी लक्षित होता है कि रूढ़िवादी मत के संप्रदाय में बदलने की अधिक संभावना होती है। इस प्रकार धर्म संस्था की अनेक समानताएं पाई जाती हैं। सामाजिक तौर पर यह एक मध्यवर्गीय घटना है, जो निश्चित रूप से मध्यवर्गीय- स्थिति पहचान और सम्मान से जुड़ा हुआ है। इसकी सदस्यता स्वैच्छिक व अधिक खुली है जो एक मोटे तौर पर वर्ग व सामाजिक स्थिति के प्रति दृष्टिकोण से निर्धारित होती है। अतः संप्रदाय मत से बनता है जब मत के सदस्यों की संख्या बढ़ने लगती है और असल में मत की तुलना में चर्च में इसके संबंध अधिक गहरे होते हैं। इसका एक अन्य अर्थ संप्रदाय की संहिता और उसके विविध धार्मिक विश्वासों में होने वाला परिवर्तन भी है।

प्रेम व धार्मिक सेवा के अनुकरण का बंधन जो कि पंथ का विशिष्ट गुण है इसमें कमज़ोर पड़ जाता है अथवा बिल्कुल लुप्त हो जाता है। संप्रदाय के सदस्य के लिए धर्म उसकी अनेक रुचियों में से एक है, उसके अन्य सुख पहंचाने वाले क्रियाकलापों में से एक। चर्च अथवा धर्म संस्था में जाना केवल एक कर्तव्य है, एक सामाजिक स्थिति का प्रतीक जिसे वह अपने लिए और अपनी पत्नी व बच्चों के लिए लाद लेता है।

पुरोहित वर्ग की नियुक्ति भी एक सामाजिक स्थिति का प्रतीक भर बन जाती है। पुरोहित पादरी वर्ग के सदस्यों को कभी कभी मानव व्यवहार, विज्ञान अथवा आध्यात्मिक ज्ञान की शिक्षा दी जाती है। पादरियों और सलाहकारों की हैसियत से काम करने के कारण तो उन्हें न दैवीय शक्तियों के धारक के रूप में और न ही मानव जाति के उद्धार के लिए पद के रूप में स्वीकारा जाता है।

चर्च की दुविधा संप्रदाय में अधिक तीव्र हो उठती है। यह दुविधा है, धार्मिकता बनाम धर्म निरपेक्षता, धनी बनाम निर्धन, आध्यात्मिकता बनाम सांसारिक ज्ञान की। संप्रदाय इस दुविधा का निवारण केवल कुछ चुने हुए लोगों तथा चर्च को अपील कर तथा संसार से इसके धार्मिक संस्कारों की निष्पक्षता पर ज़ोर देकर समझौता स्थापित करता है।

8.4.4 पंथ (Cult)

पंथ की सामाजिक सच्चाई 'पंथिक कृत्य' में निहित हैं। (वही : 39-44)। यह कृत्य है पूजा-उपासना की पद्धति से जुड़ा कार्य है। यह भावनाओं व दृष्टिकोण, प्रतीकों (मुद्राएं, शब्द, रीतियां व पद्धतियां) का जटिल मिश्रण है तथा प्राथमिक तौर पर पवित्र शक्ति तथा उससे भी परे पारलौकिक से संबंधित है। यह सह-क्रिया तथा सामाजिक सीमा को लिए हुए है। इसके अन्तर्गत जनसामान्य व पुरोहित वर्ग का संबंध नगण्य तो नहीं है पर दूसरे स्थान पर अवश्य है।

बॉक्स 8.1 पंथिक कृत्य

(ओ. डी. वही - पृ. 41) के अनुसार :

''कृपंथिक क्रिया व्यक्तियों के सामाजिक समूह के रूप में इकट्ठा होने की क्रिया है, जिसमें समूह पवित्र पदार्थों से अपने संबंध की पुनरावृति करता है तथा इसके द्वारा

पारलौकिक संबंध की पुष्टि करता है। ऐसा कर यह समूह अपनी एकता व अपने मूल्यों की पुनः पुष्टि करता है। इसके अन्तर्गत अनुयायियों के पारस्परिक संबंध तथा नेतृत्व व अनुयायियों के संबंध प्रदर्शित, पुनः पुष्ट एवं दृढ़ किए जाते हैं। व्यक्ति के लिए यह उसे एक समूह में सम्मिलित करता है जो उसे भावनात्मक साहस देता है तथा अपने धार्मिक अनुभव की पुनरावृति के द्वारा उसका संबंध शक्ति व संतुष्टि से स्थापित करता है।

पंथ एक स्वैच्छिक संस्था है। यह उन सभी के लिए खुली है जो इसमें शामिल होने व भाग लेने की इच्छा रखते हैं। पर जहाँ यह गुप्त है वहाँ यह अति विशिष्ट हो जाता है। जॉनसन के अनुसार (वही : पृ. 438) सामान्यतः पंथ आर्थिक मामलों को छोड़ कर सख्त नहीं है''। तथापि यह अपने सदस्यों को इसकी विचारधारा और सुपरिभाषित अनुष्ठानों की पद्धति के मुताबिक चलाने की ओर प्रवृत होता है। एक पंथ अन्य सभी बातों से ऊपर एक सिद्धात पर ज़ोर देता है अथवा एक देवता और देवी पर कुछ निश्चित विशेषताओं का दृष्टिकोण लिए केन्द्रित होता है।

पंथों का विकास महानगरों में अधिक तेजी से होता है जहाँ सांस्कृतिक तौर पर अलग-अलग लोग एक साथ रहने के लिए बाध्य होते हैं तथा वे अत्यधिक तेजी से बढ़ते सामाजिक परिवर्तन को महसूस करते हैं। यह दृश्य अनिश्चितता व शक्तिहीनता की स्थितियां पैदा करता है तथा परिणामस्वरूप, सामंजस्यता की समस्या उत्पन्न करता है। पंथ इन स्थितियों को सुलझाने में मदद करते हैं। (विस्तृत अध्ययन व उदाहरणों के लिए देखें जॉनसन : वही : पृ. 438)

बोध प्रश्न 1

i) धर्म संस्था (Ecclesia) पर एक टिप्पणी लिखें।

.....

.....

.....

.....

ii) एक ऐसे पंथ का नाम बताएं जिसमें संप्रदाय की विशिष्टता मिलती है।

.....

.....

.....

.....

iii) ईसाई धर्म में मत-परम्परा के उदय होने के कोई दो कारण बताएं?

.....

.....

.....

.....

.....

8.5 भारत में धार्मिक समूह (The Religious Groups in India)

हमने धार्मिक समूहीकरण की उत्पत्ति के बारे में अध्ययन किया तथा उन कारणों को भी जाना जो सामान्य रूप से धार्मिक समूहीकरण पर ज़ोर देते हैं। इस अनुभाग में हम धार्मिक समूहीकरण को विशेष रूप से भारतीय संदर्भ में समझने का प्रयास करेंगे।

हम निम्नलिखित का अध्ययन करेंगे :

- मठ, मार्ग और संप्रदाय
- संघ
- मत
- पंथ

8.5.1 मठ, मार्ग और संप्रदाय (Math, Marg and Sampradaya)

भारतीय परिप्रेक्ष्य में एक धार्मिक समूह की उत्पत्ति प्रायः मठ में होती है। प्रस्तुत संदर्भ में यहाँ इसका अर्थ होगा- चमत्कारिक व्यक्ति तथाध्अथवा समूह का ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारने या नकारने तथा मानव के सामाजिक अस्तित्व के अर्थ से जुड़ा विचार दृष्टिकोण। इस परिदृष्य के अनुसार ईश्वरीय अस्तित्व को नकारने वाला बौद्ध धर्म भी एक मठ है- बौद्ध मठ।

मार्ग (रास्ता) अनिवार्यतः मन से जुड़ी पूजा-उपासना की पद्वति द्वारा परिभाषित होता है। मार्ग प्रवर्तक तथा उसके उत्तराधिकारी तथा अनुयायियों का ईश्वर/धर्म तथा उनके स्वयं के संदर्भ में पारस्परिक संबंध को भी परिभाषित करता है। यह मठ की सामाजिक परिधि को भी परिभाषित करता है।

जब मठ-मार्ग का जटिल मिश्रण आस्था रखने वालों तथा प्रचारकों द्वारा समय व स्थान की सीमाएं पार करके अंध भक्ति रूपी ज्ञान परंपरा के रूप में विकसित होता है तो यह संप्रदाय का रूप धारण कर लेता है। इस अंधविश्वास तथा इसकी व्याख्या के प्रति विरोध एक नए मठ का रास्ता तैयार करता है। हीनयान, महायान व वज्रयान संप्रदाय या बौद्ध मठ के रूप में जाने जाते हैं। एक परिकल्पना के अनुसार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि धार्मिक समूह मठ, मार्ग और संप्रदाय की जटिल संक्रिया से उत्पन्न होते हैं। इस संक्रिया के फलस्वरूप सामाजिक इतिहास के विभिन्न कालों में धार्मिक समूहों की उत्पत्ति हुई है जिनमें से आदर्श रूप में हैं - संघ, मत, पंथ व समाज ।

8.5.2 संघ (Sangh)

बुद्ध द्वारा स्थापित, संघ स्पष्ट राष्ट्रीय चरित्र की विविधता के साथ अंतरराष्ट्रीय स्तर पर विकसित हुआ है। इसने स्थानीय परम्पराओं तथा धर्म संस्था (चर्च) से भी काफी कुछ ग्रहण किया है। तथापि यह धर्म संस्था नहीं है। धर्म का अभिप्राय है निश्चित उद्देश्य के लिए निकट संपर्क स्थापित करना अथवा कुछ लोगों का एक स्थान पर रहना। इसका अभिप्राय समाज व संस्था से भी है। एक धार्मिक संगठन के तौर पर इसके दो निश्चित उद्देश्य हैं। '(1) व्यक्तिगत उत्थान के लिए संभव सर्वोत्तम परिस्थितियां उपलब्ध कराना, (2) मानवजाति को धम्म (Dhamma) (संस्कृत में धर्म के लिए उपयुक्त) की शिक्षा देना। (हम्फ्री क्रिश्चियनः 1951)। संघ के सदस्य व्यक्तिगत तौर पर संपत्ति के मालिक नहीं होते पर संघ एक वैधानिक संगठन के रूप में संपति रख सकता है। इसमें नियुक्त एवं निर्वाचित पदों की

श्रेणीबद्धता का तंत्र होता है। यह धर्म निरपेक्ष, राजकीय व तर्कसंगत है। इसकी तुलना सरलता से एक संस्था से सरलतापूर्वक की जा सकती है।

इसकी संरचना त्रिरत्न (तीन रत्न) के सिद्धांत के आधार पर की जाती है जो इस प्रकार है; शिक्षक, शिष्य तथा इसका अनुसरण करने वाले शिक्षार्थी। जैसा कि बुद्ध ने निर्देश दिया था कि उनके बाद त्रिरत्न को 'धम्म' तथा 'विनय' द्वारा निर्देशित किया जाये। बुद्ध के अनुसार 'धम्म ' धर्म के प्रचलित रूप का प्रतीक नहीं है वरन एक प्रयोग सिद्ध-तर्कसंगत नियमों व कर्तव्य का संग्रह है जो व्यक्ति विशेष को 'सही दिशा की ओर ले जाता है और कष्ट और पीड़ा से बचाता है। समय के साथ संघ "एक पीत वस्त्रधारी भिक्षुओं, जिनसे दो सौ सत्ताइस नियमों के पालन की अपेक्षा की जाती है तथा इसके उल्लंघन के संबंध में पाक्षिक स्वीकारोक्ति की व्यवस्था के रूप में विकसित हो गया है। (बाम, ए. : 1958, पष्ः 131)

संघ का विस्तार प्रजातांत्रिक सीमित द्वारा संचालित धर्म निरपेक्ष संगठन के रूप में हुआ (बापत्त, 1956 : 4-6 पाणिकारक एच. 1954 : 20), इसका विकास 'चैत्य' व 'विहार' भिक्षु के रहने के स्थल के विकास के साथ हुआ । जैसे जैसे भिक्षुओं की संख्या में वृद्धि हुई, शिष्यों की संख्या बढ़ी, सम्पति उपहार स्वरूप मिलने लगी तथा बुद्ध की शिक्षाओं को सुनने के लिए लोग आने लगे, मठों को संगठित किया जाने लगा। संघ का प्रारंभ भिक्षुओं के समूह के रूप में हुआ जिसका कार्य संपत्ति की देख रेख करने, वस्त्रों को बांटने, निवास स्थानों का आबंटन तथा संघ के लिए संपत्ति स्वीकार करने के कार्य के लिए पद धारकों का चुनाव व नियुक्ति करना था। अपनी प्रणाली के नियमों के अतिरिक्त संघ का आधार था भिखुतत्व अर्थात उन भिक्षुओं (संस्कृत में भिक्षु) का तंत्र जो बौद्ध मठ के निवासी होते हैं। इन भिक्षुओं को सत्ता तंत्र के अनुसार संगठित किया जाता है। इस श्रेणीबद्धता में सबसे नीचे है 'समनेरा' (नवदीक्षित अथवा नया सदस्य)। उसे नया नाम व वस्त्र दिए जाते हैं तो वह नए भिक्षु के चरण तक पहुंचता है। अगले चरण के भिक्षुओं को 'झेरा' (बुजुर्ग) कहते हैं तथा 'महाठेरा' सबसे ऊँचे चरण का पद है। मठ के मुखिया को 'नायक' कहा जाता।

एक निर्धारित दीक्षा समारोह के द्वारा भिक्खु के रूप में एक नए सदस्य को संघ में ग्रहण किया जाता है। जैसा कि बौद्ध धर्म का सिद्धांत है समाज में व्यक्ति की स्थिति उसके जन्म से नहीं वरन उसके कर्म से निर्धारित होती है। अतः भिक्खु समूह में प्रवेश सभी 20 वर्ष की उम्र से ऊपर तथा स्वस्थ स्वतंत्र व्यक्तियों के लिए खुला है। भिक्खु से ब्रह्मचर्य का पालन करने तथा भिक्षा के रूप में प्राप्त दान से जीवन बिताने की अपेक्षा की जाती है। जिसका उद्देश्य है अध्ययन और तपस्या के द्वारा आंतरिक ज्ञान की प्राप्ति तथा लोगों को 'धम्म' की शिक्षा देना।

भिक्खु से यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह एक सादा, मितव्ययी तथा संपति के मोह से परे संतुष्ट जीवन बिताए व केवल उतना ही ग्रहण करे जितनी उसकी आवश्यकता है। उसकी संपति केवल तीन वस्त्र, एक कमर का वस्त्र, भिक्षा का पात्र, एक उस्तरा, एक जलपात्र तथा एक सूई होती है। वह उसमें एक छाता, एक जोड़ी खड़ाऊ तथा कुछ पुस्तकें जोड़ सकता है।

भिक्खु विशेषतया नवदीक्षित भिक्षु (समनेरा The samnera) का कर्तव्य है कि वह प्रातः भिक्षा मांगने जाए और दोपहर तक खाने के लिए वापिस लौट आए। शेष दिन वह अध्ययन, मनन व शिक्षा प्रदान करने में व्यतीत करता है। वर्षा के दिनों को छोड़कर 'भिक्खु' का कर्तव्य है कि वह पूरे वर्ष यात्रा करे और शिक्षा प्रदान करने का कार्य करे। वर्षा के दिनों में वह वापस संघ के जीवन की ओर लौट आता है तथा अध्ययन व धम्म के नियमों को दोहराता है। ध म्म के उपहार को लोगों तक पहुंचाना भिक्खु का मुख्य कर्तव्य है। धम्म के रास्ते पर आगे

बढ़ना व्यक्ति विशेष का अपना कार्य है न कि उसका। वह ईसाई धर्म के समान पादरी अथवा चर्च सेवक नहीं है। वह केवल धम्म के ज्ञान के बारे में बताने वाला है। (हम्फ्री : वही : पृ. 138)

1) **संगठन (Organisation):** प्रत्येक बौद्ध भिक्षु एक विशेष क्षेत्र के संघ का सदस्य बन सकता है। सदस्यों को चारों दिशाओं (चतुर्दिशा) का प्रतिनिधित्व करना आवश्यक समझा जाता है। दस सदस्यों के कोरम का नियम है पर आजकल सब जगह इसे एक सा नहीं माना जाता। पूरे कोरम का बिना समूह द्वारा लिए गए निर्णय व जारी निर्देशों को कोई मान्यता प्राप्त नहीं थी। ऐसे निर्णयों को अनुपस्थित सदस्यों की सहमति लेकर विधिमान्य नहीं बनाया जा सकता था।

   संघ के सदस्यों द्वारा स्थान ग्रहण करने की व्यवस्था के बारे में पहले से नियम तय थे। संघ के सामने निर्णय के लिए रखे जाने वाले मामलों को औपचारिक रूप से प्रस्तुत करना आवश्यक था। हर सदस्य को अपनी बात व अपना वोट प्रस्तत करने का अधिकार था क्योंकि बहुमत के द्वारा पारित निर्णय ही लिए जाते थे। जटिल समस्याओं को एक विशेष समिति के हवाले किया जाता था तथा उसके सुझाव संघ के सामने विधिवत मान्यता प्रदान करने के लिए प्रस्तुत किए जाते थे। मूलभूत नियमों संबंधी प्रश्नों के निर्णय के लिए धार्मिक समिति बनाई जाती थी।

   बुद्ध ने हालांकि अनमने ढंग से ही पर नारी भिक्षुओं (भिक्षुनियों) के समूह की भी सर्जना की थी। पुरुषों से पद व अन्य मामलों में निचले स्तर पर रहने वाली भिक्षुनी की व्यवस्था भारत में सम्राट अशोक के समय तक प्रायः समाप्त हो चुकी थी। आज भी यहाँ तक की थेरवाड (Therawad) परम्परा वाले देशों में व्यवस्था के किसी स्तर पर नारी सदस्य नहीं हैं।

2) **संघ और समाजः** बौद्ध मठ में संघ सर्वोपरि है। इसकी भूमिका सामाजिक जीवन के सभी मामलों में अंतिम न्यायालय की है। ''मैं अपने आपको भगवान बुद्ध, धम्म व संघ को समर्पित करता हुँ', ऐसा बुद्ध के लिए प्रार्थना में कहा जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि धम्म के प्रति समर्पण स्वैच्छिक है व अंततः बुद्ध द्वारा दिखाए रास्ते पर चलकर यह स्वैच्छिक समर्पण संघ के प्रति हो जाता है।

   बुद्ध ने यह शिक्षा दी कि सभी वस्तुओं को उनकी वस्तुस्थिति में ही ग्रहण किया जाए। इसलिए यह कहा जाता है कि संघ दार्शनिक रूप से राजनीतिक शक्तिओं के प्रति सामान्य दृष्टिकोण रखता है। अधिकांशतः राजनीतिक शक्ति इसकी मित्र बनी रही, पर यह सदैव सभी परिस्थितियों में संभव नहीं हो सका। जैसा कि बर्मा और श्रीलंका की हाल की घटनाओं से लक्षित होता है, यह सांसारिक राजनीति में उलझ गया है (हम्प्रीस : वही, पृ. 139)।

   आज संघ अधिकतर पूर्ववत ही है, यद्यपि प्रचार तथा पंथ संबंधी पद्धति में कुछ परिवर्तन अवश्य आए हैं। भिक्षु की ग्राम शिक्षक के रूप में भूमिकाय आधुनिकीकरण के क्रम में एक भाग के रूप में शिक्षा क्षेत्र पर धर्म निरपेक्ष शक्तिओं के बढते नियंत्रण के फलस्वरूप समाप्त हो गई है। जापान में भिक्षु केवल संप्रेषक मात्र हैं न कि प्रदर्शक। यदि वह चाहे तो विवाहित जीवन बिता सकता है। संघ की भी अब पूर्व शक्ति का हास हुआ है।

8.5.3 मठ (Maths)

मठ की स्थापना ईसा पश्चात 8वीं शताब्दी में शंकर के नाम से प्रचलित आदि शंकराचार्य द्वारा की गई। वे अद्वैत(Adwait)-दर्शन के भी संस्थापक हैं। जो ज्ञान व भक्ति का समन्वय करते हैं तथा अति उच्च वैचारिक धरातल पर विभिन्न धार्मिक विश्वासों को एक करने का प्रयास करते हैं। मठ का अर्थ है उन संन्यासियों का निवास स्थान जो निर्गुण/सगुण के आधार पर अद्वैत, सिद्धांत का प्रचार करते हैं।

मठ का अर्थ ऐसे स्थान से भी है जहां दूसरों के भले के लिए जीवन और ज्ञान के संबंध में अधिक जानकारी प्राप्त करने के इच्छुक छात्र निवास करते हैं। इस प्रकार मठ इसके संस्थापक द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक सिद्धांत के विकास तथा प्रचार को समर्पित आध्यात्मिकं झुकाव के लिए निर्मित शिक्षण संस्थान है। श्री चैतन्य मठ चैतन्य महाप्रभु की कृष्ण-भक्ति का प्रचार करता है तथा रामकृष्ण मठ सभी धार्मिक अनुभवों विशेषतया हिन्दू धर्म, व ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म की एकलक्ष्यता के बारे में प्रचार करता है।

मठ की जड़ें संघ में निहित होती हैं। संगठन के रूप में इसमें संघ जैसी कई विशेषताएं हैं यद्यपि सैद्धांतिक रूप से यह संघ से भिन्न है। मठ जिसकी जड़ें वेदांत में हैं, निरीश्वरता पर आधारित है। मठ तथा अद्वैत तथा उनका संगठनात्मक अंतसंबंध बौद्ध धर्म और मीमांसका के विरोध के फलस्वरूप विकसित हुए। आदि शंकराचार्य ने भारत के चार कोनों में भारत की क्षेत्रीय एकता के प्रति बढ़ती चेतना को उजागर करते चार मठों (बद्रीनाथ, पुरी, द्वारका तथा श्रींगेरी) की स्थापना की। (जवाहरलाल नेहरू : 1960-182) मठ को आठवीं शताब्दी में हिन्दू धर्म की सुधार प्रक्रिया का उत्पादन भी माना जाता है (पाणिकार, के. एम. 99-101)। मठ की स्थापना अद्वैत मठ (Adwait Math) अर्थात एक ईश्वरवादी विश्वास के प्रसार के लिए स्वार्थरहित आध्यात्मिक प्रचारकों के संगठन व शिक्षण के लिए की गई थीं।

मठ परंपरा का यह गुण रामकृष्ण मठ के संस्थापक विवेकानन्द की शिक्षाओं में अधिक प्रभाव के साथ प्रतिध्वनित होता है। श्री चैतन्य गोड़िया मठ का उद्देश्य राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण तथा विभिन्नताओं के बावजूद लोगों में एकता के सूत्र को पहचानने में लोगों की मदद करना है। (पारलौकिक तथा इहलौकिक) परम्परा तथा आधुनिकता और आध्यात्मिक तथा परोपकारी समाज कार्य में सामंजस्य स्थापित करते हुए आज यह मठ मध्ययुगीन आधुनिक दार्शनिक विश्व दृष्टिकोण तथा इसके प्रतिपादन की एक परम्परा बन गया है। सामाजिक तौर पर यह एक उच्च जाति-मध्यम वर्गीय व्यवस्था है। इसके सामान्य सदस्य अधिकतर व्यवसायी तथा व्यापारी व नव धनाढ्य हैं। मध्यम वर्ग के विस्तार के साथ इसका भी विकास तथा विस्तार हुआ है।

मठ वास्तव में एक पेंडुलम की भांति हैं जो पृथकत्व तथा मेल के बीच झूलता है। इसका आध्यात्मिक सिद्धांत इसका रीति तंत्र, इसका पुरोहित वर्ग तथा इसके साधारण अनुयायी और उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि इसे विशिष्टता अथवा पृथकता का चोगा पहनाती है। सैद्धांतिक रूप से यह सभी का स्वागत करता है। अतः अब यह स्पष्ट है कि मठ ऐसे सदस्यों का संगठन है जिसमें किन्हीं महत्वपूर्ण मुद्दों पर आपसी मतभेद हो सकते हैं, और जिससे उनमें फूट पड़ जाती है। जब लगभग सारे ही मुद्दों पर सदस्यों के विचार अलग होते हैं या धार्मिक विश्वासों का खुलासा वे अपने अपने नजरिए से करते हैं तो मठ में इसी पथ का अनुसरण किया जाता है जिससे आगे चलकर मठ में फूट पड़ जाती है।

मठ के तीन उद्देश्य हैं: (1) इसका प्रथम उद्देश्य आध्यात्मिक है-इसके द्वारा प्रस्तुत आध्यात्मिक ज्ञान को परिभाषित करना, बनाए रखना व इसका प्रचार करना। इस कार्य के लिए यह आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचारकों के शिक्षण तथा नियुक्ति के लिए संस्थागत साधनों की संरचना करता है। (2) यह दार्शनिक नैतिक मूल्यों को मनुष्यों में उजागर करने का प्रयास करता है। जिसका मुख्य उद्देश्य परिवार, राजनीति तथा समाज में व्यक्तिक चरित्र का पुनःस्थापन है। (3) परोपकारी सामाजिक कार्यों का संगठन तीसरा उद्देश्य है। इसमें दवाखानों तथा चिकित्सालयों, शैक्षणिक संस्थाओं व संस्कृत पाठशालाओं का संचालन सम्मिलित है। अपने आध्यात्मिक उद्देश्य के अनुसरण के लिए मठ बहुधा पुस्तकों तथा पत्रों के प्रकाशन के लिए मुद्रण की व्यवस्था भी करता है। यह शिक्षण तथा अनुसंधान के लिए पुस्तकालय भी बनाता है।

आजकल मठ अधिकतर एक संविधान के अनुरूप संचालित न्यास के तत्वाधान में स्वीकृत समिति के रूप में कार्य करता है। मठ तथा आश्रम को ट्रस्ट में परिवर्तित करने की प्रवृति लगातार प्रबल होती रही है तथा इसके कई कारण बताए जाते हैं। यह मठ की सम्पति का उपलब्ध सर्वोतम संस्थागत बचाव है। नामांकित/दीक्षित अनुयायी को उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति के पैतृक अधिकार का प्रचलित नियम संघर्ष को जन्म देता है तथा यह नियम सभी परिस्थितियों में मठ की सम्पति को बिखरने अथवा दुरुपयोग होने से नहीं बचा सकता। ट्रस्ट का यह रूप इसे धन एकत्र करने में भी मदद करता है क्योंकि पंजीकृत धर्मार्थ संस्था को दिए जाने वाला दान व्यक्ति विशेष की आय के एक निश्चित प्रतिशत तक आयकर से मुक्त होता है।

बॉक्स 8.2 चैतन्य मठ की संगठनात्मक संरचना

मठ की एक गद्दी व प्रधान कार्यालय है। ये दोनों एक स्थान पर स्थित नहीं हैं। इसमें दो स्तरीय सदस्यता का प्रावधान है सामान्य व विशिष्ट। नियुक्ति व चयन विशिष्ट सदस्यों तक सीमित है जिन्हें प्रबंध निकाय द्वारा चुना जाता है तथा यह चयन प्रधान आचार्य द्वारा संपुष्टि के बाद होता है। एक हजार रुपये तथा इससे अधिक दान देने वाले इसके संरक्षक कहे जाते हैं पर वे इसके प्रबंधन में कोई भूमिका नहीं निभाते।

शीर्ष पर प्रबंध निकास की अध्यक्षता, संस्थापक प्रधान आचार्य तथा उसके सहयोगी द्वारा होती है। सचिव तीन प्रकार के होते है सचिव, सह-सचिव तथा सहायक सचिव । नियमानुसार सहायक सचिवों का कार्य सदैव भारत भ्रमण पर रहना है, प्रचार कार्य करना तथा मठ की शाखाओं का निरीक्षण करना है।

स्थानीय मठ की एक शाखा का मुखिया मठ रक्षक होता है, जिसकी नियुक्ति प्रबंधन निकाय तथा प्रधान आचार्य द्वारा की जाती है। उसके नीचे मठ सेवक होते हैं जिनका कार्य खाना पकाना, सफाई करना तथा मठ के अन्य इस प्रकार के कार्य करना है। उनके लिए यह 'सेवा' ईश्वर के प्रति सेवा है। स्थानीय मठ में तीन तरह के लोग होते हैं ब्रह्मचारी (छात्र-सेवक) वानप्रस्थी तथा सन्यासी। ब्रहमचारी के रूप में मठ की सेवा करने के पश्चात सदस्य को गृहस्थाश्रम की ओर लौटने की स्वतंत्रता होती है। गृहस्थाश्रम का कर्तव्य निभाने के बाद सदस्य वापिस मठ में वानप्रस्थी के रूप में आ सकता है तथा अंत में सन्यास में प्रवेश कर मठ तथा मानवता की सेवा कर सकता है।

भगवा वस्त्रधारी मठ के कार्यकर्ता प्रभु/महाराज कहलाते हैं। वे इस तरह के शासन तंत्र से बंधे हैं जिसका आधार वरिष्ठता, सदस्य की आध्यात्मिक उपलब्धि की मान्यता, मन के आध्यात्मिक ज्ञान की शिक्षा तथा मिशन के उद्देश्य-प्राप्ति के लिए की गई

सराहनीय सेवा है। विष्णुपाद की पदवी सर्वोच्च सम्मान का प्रतीक है तथा प्रभुपाद शासन तंत्र में इसके बाद का स्थान रहता है। मिशन के कार्य के प्रति, तथा मन तथा वाक (वाणी) से समर्पित त्रिदंडी स्वामी कहलाता है। आचार्य के पास किसी को मत तंत्र में लेने, विशेष रूप से सन्यासी के रूप में लेने का अधिकार है। यह अधिकार प्रत्यायोजित किया जाता है।

8.5.4 पंथ (Panth)

धार्मिक संगठन के रूप में पंथ (रास्ता) एक विशिष्ट स्थान रखता है, यद्यपि इसकी बहुत सी बातें संघ व मठ की परपंरा से ली गई हैं। पंथ का उदय भारत में इस्लाम के राजनीतिक-धार्मिक प्रभुत्व के विरोध में तथा धार्मिक सामाजिक सुंधारों व पुनःसंगठन के उद्देश्य से हुआ। तब से पंथ परम्परा चली आ रही है।

इसे निर्गुण भक्ति विद्यापीठ (निराकार ईश्वर की उपासना) भी कहा जा सकता है, अतः इसे निर्गुण पंथ भी कहा जाता है। एक ईश्वर में विश्वास रखने वाले होने पर भी ये मोक्ष के विचार पर विश्वास नहीं रखते। शंकराचार्य के अद्वैतवाद की तुलना में ये अधिक सांसारिक हैं। सामाजिक रूप से यह 'भगत' व गुरू पर आधारित है। 'भगत' गुरू व उसके पक्ष से जुड़ा है। यह रीति-रिवाज की औपचारिकताओं को न मानता तथा उससे अपेक्षा की जाती है कि वह पक्का शाकाहारी रहे तथा मदिरा पान न करें। उससे एक साधारण व मितव्ययी जीवन की भी अपेक्षा की जाती है। गुरू उसके आध्यात्मिक सिद्धांत, पंथ तथा परिवार व अपने जाति आधारित आर्थिक क्रिया-कलाप के प्रति समापत हैं। 'भगत' एक गृहस्थ साधु है (जो आध्यात्मिक ज्ञान का समावेश पारिवारिक जीवन में करता है)

पंथ वर्णाश्रम का विरोध करता है जो जन्म आधारित जातियों में असमानता, रीति-रिवाज की औपचारिकताएं तथा हिन्दु व इस्लाम धर्म के कट्टरपन का विरोधी है। यह साधनों की पवित्रता, कर्म आधारित है तथा ईश्वर के सामने सबकी समानता पर ज़ोर देता है। वास्तविक जीवन में पंथ अपनी पंथिक रीति-औपचारिकताओं से दूर नहीं रह सका जो कि सरलता तथा जटिलता से परे है। पंथ हिन्दू धर्म और इस्लाम से अलग होते हुए भी उनके अंदर तथा साथ साथ विकसित हुआ है। यह जाति प्रथा की भर्त्सना करता है पर यह उसके साथ ही विकसित हुआ है। यह पूरी तरह से जातिप्रथा के शिकंजे से मुक्त नहीं हो सका।

पंथ एक धार्मिक बंधुत्व है जिसका आधार आदि गुरू (प्रवर्तक) द्वारा दिखाया गया रास्ता है जिसके नाम पर यह एक समूह के रूप में जाना जाता है जैसे कबीर पंथ, दादू पंथ आदि। क्रम में आगे आने वाला उत्तराधिकरी आदि गुरू के चमत्कारी व्यक्तित्व का प्रतीक हो सकता । है। आदिगुरू तथा उसके उत्तराधिकारियों द्वारा रचित काव्य ही पंथ का धार्मिक ग्रंथ होते हैं तथा इसके आध्यात्मिक सिद्धांत को प्रकट करते हैं। गुरू के अतिरिक्त सर्वमान्य धार्मिक उपदेश, पंथिक रीतियां, रीति चिह्न तथा पहचान का निशान (जिस अनुयायी द्वारा व्यक्तिगत आभूषणों के रूप में अपनाया जाता है) पंथिक बंधुत्व के लिए बंधन का कार्य करते हैं तथा इसे विशिष्टता की छाप देते हैं।

पंथ का सत्ता तंत्र सीमित लोगों द्वारा संचालित है। आदि गुरू की चमत्कारिक गुरू शक्ति उत्तराधिकार द्वारा अथवा नामांकन द्वारा आगे सौंपी जाती है। आदि गुरू अथवा उसके उत्तराधिकारी के नीचे गुरुओं और महंतों का तंत्र होता है। पंथ का संबंध भी गद्दी से होता है। वह स्थान जहाँ मूल रूप से इसकी स्थापना हुई थी। मूल 'गद्दी' को आगे गद्दियों (शाखाओं) में विभाजित किया जा सकता है। ये गद्दियां अथवा शाखाएं विभिन्न केन्द्रों में स्थापित होती हैं। शाखा का संचालन स्थानीय महंतों तथा कार्यकर्ताओं द्वारा किया जाता है जिसकी नियुक्ति स्थानीय अनुयायियों की सर्वसम्मति से होती है।

सोचिए और करिए 2

आप जिस धर्म को मानते हैं उसके धार्मिक समूह की पहचान कीजिए और उसकी समूह विशेषताओं को रेखांकित कीजिए। अपने धर्म के अलावा किसी अन्य धार्मिक समूह को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त अभ्यास को दोहराएं। .

पंथिक संगठन में गुरू की महत्ता के कारण गुरुद्वारों का प्रभावी सामाजिक-जातीय महत्व है। तथापि गुरूद्वारा दैनिक, अवसर विशेष पर तथी त्योहारों पर जनसमूह के जुड़ने का स्थान है। यह बंधुत्व की भावना को मजबूत करता है। पर धार्मिक सामाजिक संवाद का माध्यम भी है। ऐसे पंथ जिसमें संत या महंत (मुखिया) के प्रति पूरी स्वामीभक्ति होती है, उन्हें भी प्रवर्तक की मृत्यु के समय और पंथ में विभिन्न समूहों के उभरने पर फूट का सामना करना पड़ता है।

पंथिक समूह भी विरोध, मतभेद व विभाजन से परे नहीं है। विभाजन का आधार काफी हद तक सैद्धांतिक मामले न होकर आंतरिक मतभेद तथा धार्मिक और धर्मेतर शक्ति को हथियाने के लिए अंतर-गुट प्रतिस्पर्धा होती है। पंथ बंधुत्व को संत तथा जनसाधारण दो भागों में विभाजित किया जाता है। संत पंथ का आध्यात्मिक प्रवक्ता है। वह इसके सिद्धात का प्रसार करता है तथा इसका प्रचारक व धुमंत मिशनरी है। वह संसार को त्याग चुका अथवा गृहस्थ संत भी हो सकता है। उसके वस्त्र भगवा रंग अथवा अन्य किसी निर्दिष्ट रंग के हो सकते है। (गृहस्थ साधु) होने पर वह साधारण वस्त्र धारण कर सकता है पर पंथ का निशान धारण करना आवश्यक है।

विशिष्ट दीक्षा-पद्वति के कारण पंथ एक विशिष्ट-मतीय बंधुत्व है। पंथ में सम्मिलित होने का अर्थ है गुरूं अथवा उसके उत्तराधिकारी के प्रति पूर्ण आस्था । एक पंथ में गुरू और महंत एक ही हो सकते हैं। जबकि किसी अन्य पंथ में उन्हें अलग रखने का प्रावधान है। महंत वास्तव में गुरू नहीं है। वह मठ अथवा संतों के गुट का मुखिया है। किसी अति गोपनीय पंथ के अपने गोपनीय रीति-रिवाज व कोड (सांकेतिक) भाषा हो सकते हैं। कुछ समय पहले तक शिवनारायणी दीक्षा प्राप्त न किए लोगों को अपने गुरूद्वारे में प्रवेश की अनुमति नहीं देते थे तथा उनकी अपनी गोपनीय भाषा भी थी जो अब लुप्त हो रही है। उनके यहाँ महिलाओं को भी गुरुद्वारे में प्रवेश की अनुमति नहीं थी। शिवनारायणी सदस्य के लिए आवश्यक है कि वह अपने साथ पहचान पत्र (परवाना) रखे जिसे संबंधित गुरुद्वारे के मुख्य महंत द्वारा जारी किया जाता है।

भक्ति के सिद्धांत तथा पंथ के संगठन के माध्यम से उच्च वर्गीय अभिजात वर्ग ने जीवन का सांस्कृतिक रास्ता अपनाया। भक्ति सिद्धांत का दक्षिण में प्रादुर्भाव हुआ तथा इसके प्राथमिक उपदेशक ब्राह्मण वर्ग के थे, यद्यपि एक विचार के रूप में इसकी जड़ें अत्यंत गहरी हैं। उत्तर में इसे रामानंद द्वारा प्रस्तुत किया गया पर पंथ के संस्थापक अधिकतर मध्य व निम्न जातियों के थे। नानक तथा राधास्वामी पंथ के संस्थापक खत्री थे। शिवनारायणी पंथ की स्थापना एक राजपूत (शिवनारायण) द्वारा की गई। रविदास जाति से चमार थे तथा कबीर मुस्लिम (जुलाहा) जाति के थे।

महत्वपूर्ण बात है कि पंथ के अनुयायी अधिकतर जाति-तंत्रों निचले हिस्सों से ही आए तथा मध्य वर्ग से कभी कभी ही। वर्णाश्रम का विरोध करते पंथ ने संस्कृतिकरण का एक लोकप्रिय संस्करण प्रस्तुत किया। रीतियों के तौर पर अधिक जटिल न होने के कारण यह सैद्धांतिक व सांस्कारिक-सामाजिक जाति गतिशीलता पैदा करने में समर्थ रहा पर अधिक दूर तक.नहीं जा सका।

वर्णाश्रम के विरोध के द्वारा इसने वर्ण-भेद में निहित शक्ति - तंत्र का विरोध किया। कछ स्थानों पर इसे राजनीतिक संरक्षण प्राप्त हुआ था तथा कुछ अन्य स्थानों पर इसका राजनीति से संघर्ष भी हुआ । संघर्ष का कारण अक्सर इसके नेतृत्व का धर्मेतर स्वार्थ रहा। तथापि टकराव जितना अधिक तीव्र होता है पंथ उतना ही आक्रामक होता है।

आज मठ की ही भांति पंथ को भी संविधान संचालित वे ट्रस्ट के रूप में कार्य करते देखा जा सकता है। इसकी प्रकृति सिद्धांतवादी तथा राजनीतिक रूप से अस्वीकार्य की होती है। कुछ निश्चित स्थानों पर जैसे कि चमार जाति में पंथ के प्रति आस्था में भटकाव आया है। बिजनौर में रविदास के अनुयायी सिक्ख धर्म की ओर मुड़ गए। देहरादून में बिजनौर के चार विस्थापित आर्य समाज में चले गए। अब नव-बौद्ध धर्म अधिक धार्मिक-सुधारवादी अपील करता प्रतीत हो रहा है। अधिकांशतः आंतरिक जाती मतभेद ही धर्म-भेद व टकराव को प्रश्न करते हैं। (भट्ट, जी. एस. 1961 : 229-241)

बोध प्रश्न 2

i) बताइए संघ किस प्रकार से धर्म संस्था (चर्च) से भिन्न है ?

.....

.....

.....

.....

.....

ii) अद्वैत सिद्धांत/दर्शन (Advaita Philosophy) के संस्थापक कौन थे?

.....

.....

.....

.....

.....

iii) आदि शंकराचार्य द्वारा स्थापित चार मठों के नाम बताइए।

.....

.....

.....

.....

iv) एक धार्मिक संगठन के रूप से पंथ पर पाँच पंक्तियाँ लिखिए। यह मत से किस प्रकार मिलता-जुलता है?

.....

.....

.....

.....

8.6 सारांश

इस इकाई में हमने निम्नलिखित के बारे में चर्चा की तथा कुछ विशिष्ट जानकारी प्राप्त की। जटिल धार्मिक संगठनों का विकास मूल रूप से एक चमत्कारिक व्यक्तित्व के धार्मिक अनुभव के आधार पर हुआ। (उदाहरणतया ईसा मसीह, मोहम्मद आदि)। तत्पश्चात इसने विचारों की एक निश्चित पद्वति तथा व्यवहार अथवा रीति रिवाजों के रूप में विकास किया।

मध्यपूर्वी धर्मो जैसे ईसाई व इस्लाम की एक ईश्वरवादी प्रकृति उन्हें अधिक व्यवस्थित रूप से संगठित होने में सक्षम बनाती है। इसलिए चर्च अथवा धर्म संस्था भारत में इसके साम्यों से कहीं अधिक सुसंगठित है। यहाँ प्रश्न उठता है - क्या हम पश्चिमी समाजशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत धर्म संस्था (चर्च) मत वर्गीकरण को भारतीय धर्म संगठन को समझने के लिए उपयोग कर सकते हैं। यद्यपि यहाँ हमें धर्म संस्था (चर्च) मठ वर्गीकरण का कोई निश्चित साम्य नहीं मिलता तथापि यह हमें तुलनात्मक अध्ययन करने में मदद प्रदान करता है।

इस इकाई में धार्मिक संगठन की उत्पत्ति, विकास तथा इसकी विशिष्ट क्रिया की भी चर्चा की गई है। किसी भी धार्मिक समूह के लिए स्थापित संगठन तथा वर्ग बनने के लिए पूजा-उपासना की पद्वति, निश्चित दर्शन जो इसके जुड़े अनुयायियों को आपस में बांधता है, का प्रतिपादन करता है।

मठ व पंथ आंतरिक मतभेद तथा आंतरिक संक्रिया का परिणाम है जो शीघ्र ही धार्मिक संगठन के बने रहने के लिए मुखद उपदेशों का संस्थाकरण कर देते हैं। इस पहलू पर भी इस इकाई में चर्चा की गई है।

8.7 संदर्भ

ओ. डीकृ थामस एफ. (1969), *'दि सोष्योलाजी ऑफ रिलीजन'*, नई दिल्लीः प्रेन्टिस हाल।

जानसन, हैरी एम. (1968); *ऐ सिस्टेमेटिक इंट्रोडक्शन'*, लंदन :रूटलेज एंड केगन पॉल।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय पाठ्यसामग्री (2005), *समाज और धर्म* (ESO 15), नई दिल्ली : इग्नू।

8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) धर्म संस्था का शब्दिक अर्थ है लोकप्रिय जनसमूह। तथापि चर्च के रूप में धर्म संस्था का धार्मिक पहलू भी है। धर्म-संस्था (चर्च) ईसा मसीह के धार्मिक अनुभव (जैसा बाइबिल में वर्णित है) के आधार पर की गई थी। ईसा मसीह को ईश्वर तथा मानव के बीच मध्यस्थ के रूप में स्वीकार किए जाने के कारण उनका अनुभव सब रहस्यों को खोलने वाला तथा दोषमुक्त माना जाता है। तथा यह माना जाता है कि यह रहस्योद्धार सहेजा जाना चाहिए तथा आगे बढ़ाया जाना चाहिए ताकि मानव जाति का उद्धार हो सके।

पदों और कार्यालयों के तंत्र के रूप में चर्च नौकरशाही की तरह कार्य करता है। चर्च-पादरी वर्ग का सदस्य अपने धार्मिक गुण उस पद के प्रभाव से प्राप्त करता है जो उसे आदेश अथवा नियुक्ति के रूप में प्राप्त होता है। इसका मुखिया पोप पदधारकों के एक छोटे समूह के द्वारा चुना जाता है। तंत्र के शेष पदाधिकारी नियुक्त किए जाते हैं।

चर्च अपने कार्यकर्ताओं का शिक्षण व नियुक्ति, अपने आध्यात्मिक शिक्षा संस्थानों द्वारा विचार-गोष्ठियों तथा कार्यशालाओं का भी संचालन करता है। यह धर्मेतर शिक्षा के लिए विद्यालयों तथा महाविद्यालयों की स्थापना भी करता है जहाँ धर्मेतर शिक्षा के साथ ईश्वरीय ज्ञान भी दिया जाता है।

ii) काल्विनवाद का जन्म चर्च की प्रभुसत्ता के विरोध में एक मत के रूप में हुआ जो बाद में संप्रदाय बन गया।

iii) मतवाद की ईसाई धर्म में भर्त्सना की गई है क्योंकि इसका उद्देश्य कुछ हद तक ईसाई'. धर्म में ही निहित है। मतों के विकास का एक मुख्य कारण व्यक्तिवाद के मूल्यों की स्थापना है। एक अन्य महत्वपूर्ण कारण उन सामाजिक संस्थाओं के प्रति विरोध है जिन्हें चर्च मान्यता प्रदान करता है। तथा इसका विरोध कर यह सामाजिक न्याय स्थापित करने की आशा रखता है।

बोध प्रश्न 2

i) संघ धर्म संस्था से इस प्रकार भिन्न है कि यह धर्मनिरपेक्ष प्रयोग सिद्ध तथा तर्कसंगत जीवन कृत्यों को निर्धारित करते नियमों का समूह है जो व्यक्ति को उसके जीवन में मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। धम्म ईश्वर संबंधी रहस्य का उद्घाटन नहीं है अतः दोषमुक्त नहीं है।

ii) आदि शंकराचार्य अथवा शंकर (जिस नाम से वे लोकप्रिय हैं) अद्वैत-दर्शन के संस्थापक हैं।

iii) आदि शंकराचार्य द्वारा स्थापित चार मठ निम्नलिखित स्थानों पर हैं-बद्रीनाथ, पुरी, द्वारका तथा श्रींगेरी।

iv) पंथ का विकास भक्ति आंदोलन की देन है। यह मुख्यतः विरोध तथा सामाजिक सुधार का आंदोलन है।

पंथ जन्म आधारित वर्ग भेद, रूढ़िवादियों, औपचारिकताओं तथा हिन्दू धर्म व इस्लाम के कट्टरपन का विरोध करता है। अनुयायियों द्वारा अपने रीति रिवाजों का पालन, निशानकरण तथा अलग पहचान बनाई जाती है जो इस पर विशिष्टता की छाप लगाते हैं। अनुयायियों द्वारा एक साधारण व मितव्ययी तथा निर्गुण ईश्वर के प्रति समर्पित जीवन बिताने की अपेक्षा की जाती है।

पंथ व मत में समानता है क्योंकि मत की तरह ही पंथ की उत्पति प्रचलित धर्म की कुछ धारणाओं के विरोध से होती है। तथा मत की ही भांति पंथ भी व्यक्तिगत शुद्धिकरण तथा समर्पण पर बल देता है।

इकाई 9 कौशल : धार्मिक विशेषज्ञ*

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 धार्मिक विशेषज्ञ और धर्म का समाजशास्त्र

9.2.1 धर्म के बारे में वेबर का मत

9.3 पादरी/पुरोहित

9.3.1 पुरोहित के बारे में वेबर के विचार

9.3.2 पुरोहित व पुरोहितगिरी : एक सर्वेक्षण

9.3.3 पुरोहित तथा राजवर्ग

9.3.4 पुराहितगिरी की योग्यताएँ

9.4 ओझा

9.4.1 जादूगर के संबंध में वेबर के विचार

9.4.2 ओझा : एक सामान्य सर्वेक्षण

9.4.3 ओझा के कार्य व भूमिका

9.4.4 संगठन

9.4.5 ओराँव ओझा : एक उदाहरण

9.5 पैगम्बर

9.5.1 पैगम्बर के बारे में वेबर के विचार

9.5.2 पैगम्बरे : एक सर्वेक्षण

9.5.3 सत्य साईं बाबा : एक उदाहरण

9.6 सारांश

9.7 संदर्भ

9.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :

- इन विशेषज्ञों की प्रकृति व कार्य से परिचित हो सकंगे;
- समय के साथ इनका विकास कैसे हुआ तथा किस प्रकार उनकी स्थिति आज उतनी प्रासंगिक नहीं है जितनी एक समय पर थी, पर विवेचना कर सकेंगे;
- मानव तथा ईश्वर के बीच मध्यस्थ के रूप में इनकी भूमिका को समझ सकेंगे; और
- इन विशेषज्ञों की प्रकृति में होने वाले परिवर्तन का विश्लेषण कर सकेंगे।

*इग्नू पाठ्यसामग्री से अंगीकृत *समाज और धर्म* (ESO-15) की इकाई 13 का नीता माथुर द्वारा लघु संशोधन।

9.1 प्रस्तावना

यह इकाई धार्मिक विशेषज्ञों की प्रकृति के अध्ययन से संबंधित है। प्रस्तुत इकाई में धार्मिक विशेषज्ञों की प्रकृति का अध्ययन करते हुए तीन विशेष प्रकार के विशेषज्ञों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है : ओझा, पुरोहित तथा पैगम्बर । हमारे लिए आवश्यक है कि उनके बारे में संक्षिप्त जानकारी प्राप्त करें। उनमें निहित कुछ निश्चित चमत्कारिक गुणों के कारण उन्हें मानव तथा ईश्वर/दैवीय शक्ति के बीच मध्यस्थ की भूमिका का पद दिया जाता है। मध्यस्थता का यह कार्य किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के किसी ऐसे समूह द्वारा किया जा सकता है; हाँ प्रत्येक व्यक्ति एक निश्चित व अलग तरह का कार्य करता है। यह कार्य अथवा क्रियाएं विशेष रीति-रिवाजों, दैनिक प्रक्रिया अथवा बीमारी के समय सम्पन्न कराई जा सकती हैं।

धार्मिक विशेषज्ञ विभिन्न प्रकार के हैं तथा उनकी प्रकृति उनके द्वारा किए जाने वाले कार्य, सिद्धांत जिसमें वे विश्वास रखते हैं तथा उनके अनुयायियों की प्रकृति पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए, मंदिरों में पुरोहित, पैगम्बर जैसे कि मोहम्मद साहब, पंथिक नेता जैसे कि सत्य साईं बाबा, ओझा जैसे कि नेपाल व तिब्बत में पाए जाते हैं, मत-नेतृत्व जैसे कि इस्कॉन के दिवंगत स्वामी प्रभुपाद आदि हैं।

इन विशेषज्ञों की भूमिका व प्रभाव अलग-अलग समाजों में अलग अलग है तथा कुछ हद तक ये एक समाज विशेष में प्रचलित धार्मिक व्यवस्था की प्रकृति पर निर्भर करते हैं। विशेषज्ञों का कार्य प्रायः सुखमय लक्ष्यों की प्राप्ति करना तथा दूसरों को हित पहुँचाना होता है पर बहुधा उनका लक्ष्य हानि पहुँचाना भी हो सकता हैं। हम देखते हैं कि अक्सर लोग इन धार्मिक विशेषज्ञों की सेवा उन स्थितियों में भी प्राप्त करते हैं जहाँ उनकी कोई आवश्यकता नहीं होती। झाड़-फूंक करने वालों, जादू टोना करने वालों तथा दवाई देने वालों धार्मिक विशेषज्ञों की सेवाएं एक सामान्य प्रक्रिया के रूप में प्राप्त की जाती हैं। अतः इस इकाई में विशेषज्ञों के तीन विशेष प्रकारों-पुरोहित, ओझा तथा पैगम्बर का अध्ययन किया गया है तथा उनके कार्य व सामाजिक महत्व पर भी प्रकाश डाला गया है। हम जहाँ कहीं भी संभव होगा प्रस्तुत विवरण से संबंधित उदाहरण भी प्रस्तुत करेंगे।

9.2 धार्मिक विशेषज्ञ और धर्म का समाजशास्त्र (Religious Specialists and Sociology of Religion)

इससे पहले कि हम इन तीन प्रकार के विशेषज्ञों का विस्तृत अध्ययन करें यह आवश्यक है कि समाजशास्त्र के छात्र होने के नाते हम यह जान लें कि धर्म समाजशास्त्र का इनके बारे में क्या कहना है ? ''धार्मिक विशेषज्ञ वह है जो अपने को धार्मिक प्रक्रिया के प्रति समर्पित करता है'' (टर्नर : *समाजशास्त्र का अन्तरराष्ट्रीय विश्वकोश* पृ॰ 437)। समाज में जहाँ इस शक्ति को अवैयक्तिक समझा जाता है, नृविज्ञानियों के अनुसार यह एक जादुई शक्ति है तथा इस शक्ति का उपयोग करने वाला एक जादूगर। जहाँ यह शक्ति व्यैक्तिक मानी जाती है जैसे देवी, देवता, आत्माएं तथा शैतान आदि, वहाँ नरतत्वीय विज्ञान-वेत्ता इसे धर्म के रूप में लेते हैं। यथार्थ में धर्म और जादू के मध्य कोई स्पष्ट अंतर नहीं किया जा सकता। धार्मिक प्रक्रियाओं में धार्मिक विश्वास, रीतियों तथा जादुई तत्वों का समावेश रहता है। इस प्रकार धार्मिक विशेषज्ञों की भूमिका अति व्याप्त है।

प्रारम्भिक नृविज्ञानियों जैसे कि फ्रेजर, दुर्खाइम, मलिनॉस्की ने सैद्धांतिक अध्ययन के लिए धार्मिक विशेषज्ञों को अलग व विशिष्ट घटना के रूप में नहीं पहचाना। उनके अनुसार, विशेषज्ञ धार्मिक प्रक्रिया का एक भाग है तथा यह एक विशिष्ट 'सामाजिक' घटना है।

मेक्स वेबर ने इस संबंध में महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने विश्व धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया जिसमें उसने धार्मिक विचारों के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है और धार्मिक विशेषज्ञों को सामाजिक परिवर्तन या परम्परा के संवर्धन के प्रमुख कारक के रूप में देखा है। वेबर ने धर्मो, उनके सामाजिक प्रभावों तथा धार्मिक कार्यकर्ताओं के बारे में प्रचुर मात्रा में लिखा है। इससे पहले कि हम वेबर के मत के बारे में विस्तृत चर्चा करें। हमें इन पर दृष्टि डालनी होगी कि नृविज्ञानी विभिन्न धार्मिक विशेषज्ञों में किस प्रकार भेद करते हैं।

मेक्स वेबर ने पारम्परिक व्यापकता की जानकारी होते हुए भी पुरोहित व पैगम्बर में भेद किया है। वेबर के अनुसार, पुरोहित ईश्वर को मनाने हेतु 'नियमित रूप से संगठित तथा स्थायी उद्यम' करता है। वेबर के अनुसार पैगम्बर व्यक्तिगत आधार पर पुरोहित से भिन्न है। पैगम्बर का अधिकार व्यक्तिगत आकर्शण तथा प्रासंगिकता पर आधारित है।

वेबर से अलग मत रखने वाले विद्वान जो धर्म की सामाजिक परिवर्तन व पुनर्चेतन के फलस्वरूप उत्पत्ति के विचार को अधिक गहराई से नहीं लेते, वे ओझा को सरल समाजों की धार्मिक व्यवस्था के सहज प्रतीक के रूप में देखते हैं। संपादक लेजा तथा ई. जेड. होग्ट ने अपने *'रीडर इन कम्पेरेटिव रिलिजन'* (1958) में एक पूरा खंड इस पहलू के प्रति समर्पित किया है। वे पाते हैं कि ओझा जीविका-अर्जित करने वाले समाज में महत्ता प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ ओझा एक व्यक्ति अथवा समूह को व्यक्तिगत सेवाएं प्रदान करता है, दूसरी तरफ, उनके अनुसार, पुरोहित तंत्र रूप में अधिक जटिल खाद्यान्न-उत्पादन व कृषि समाज की विशेषता है जहाँ पूरे समुदाय के हित के लिए सामान्य उत्सव अथवा रीति-रिवाज पाए जाते हैं।

रेमंड फर्थ के अनुसार ओझा एक ऐसा विशेषज्ञ है जो आत्माओं, दैवीय शक्ति पर नियंत्रण की विकसित तकनीक का प्रयोग करता है। यहाँ देवीय शक्ति आत्माओं पर नियंत्रण के प्रयोग पर बल दिया गया है। इस प्रकार वह "पारलौकिक तथा मानव जाति के मध्य संरक्षण के माध्यम के रूप में सेवाएं प्रदान करता है। (फर्थ, 1964,पृ. 689)

यद्यपि हम पाते हैं कि उनके कार्य परस्पर व्यापक हैं, पुरोहित, पैगम्बर तथा ओझा स्पष्ट रूप से धार्मिक कार्यकर्ता की एक इकाई की भिन्न उपइकाइयां हैं। इससे पहले कि दैनिक जीवन में धार्मिक विशेषज्ञों की भूमिका के बारे में मोटे तौर पर व्याख्या करें, हम संक्षेप में धर्म के बारें में वेबर के मत का अध्ययन करेंगे।

9.2.1 धर्म के बारे में वेबर का मत (Weber on Religion)

वेबर का विश्वास है कि किसी समाज में व्यक्तियों के तौर तरीके धार्मिक व जादुई तत्वों द्वारा संचालित होते हैं। वे अपने अध्ययन में ईश्वर की बहुलता तथा उसकी क्षमताओं की चर्चा करते हैं वे इस्लाम तथा यहूदी जैसे अद्वैतवादी धर्मों तथा हिन्दू धर्म जैसे अनेक ईश्वरीय धर्मों की भी चर्चा करते हैं धार्मिक अनुभवों तथा विशेषज्ञों का वर्गीकरण करने के प्रयास में वे इस बात की ओर इशारा करते हैं कि कैसे प्रार्थना, बलिदान तथा पूजा-उपासना के द्वारा मानव जाति दैवीय शक्ति से अपना संबंध स्थापित करती है। इस कार्य में पुरोहित रूपी मध्यस्थ उनकी मदद करते हैं। प्रायः प्रार्थना के फलदायक सिद्ध न होने पर झाड़ फूंक व जादू टोनों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार की स्थितियों में, वे जादूगर की ओर झुकते हैं। यह कहा जा सकता है कि धार्मिक विशेषज्ञ हितकारी दैवीय शक्तियों से धार्मिक क्रियाओं के द्वारा तथा अहितकारी शक्तियों से जादुई क्रियाओं द्वारा संबंध स्थापित करते हैं। कुछ ऐसे समाज भी हैं जहाँ ये दोनों क्रियाएं एक ही धार्मिक विशेषज्ञ द्वारा की जाती हैं, उदाहरण के लिए अफ्रीका में सूडान की नुएर (Nuer) जनजाति का मुखिया लियोपार्ड स्किन।

ऊपर वर्णित कार्यकर्ताओं के अतिरिक्त वेबर, समाज में धार्मिक नेता अथवा पैगम्बर की मौजूदगी को भी मान्यता प्रदान करता है। पैगम्बर, इस्लाम जैसे विश्वव्यापी धर्म का संस्थापक अथवा भारत में सत्य साई बाबा की भांति पंथिक नेता हो सकता है।

आइये, हम प्रत्येक विशेषज्ञ के बारे में स्वतंत्र रूप से अध्ययन करें।

9.3 पादरी/पुरोहित (The Priest)

सर्वप्रथम यहाँ वेबर के अनुसार पुरोहित की व्याख्या की गई है। उसके बाद हम इस वर्ग का सामान्य रूप से विश्लेषण करेंगे।

9.3.1 पुरोहित के बारे में वेबर के विचार (Weber's Understanding of the Priest)

वेबर के अनुसार पुरोहित पारलौकिक शक्ति से संबंधित निरंतर, स्थायी तथा संगठित क्रियाओं को करने वाला कार्यकर्ता है। वह अपना कार्य किसी एक व्यक्ति की ओर से अथवा पूरे समाज की ओर से करता है। पुरोहित सामाजिक संगठन से जुड़ा होता है तथा उसका पद आनुवांशिक होता है। उससे पुस्तकों तथा सिद्धांतों के बारे में अधिक ज्ञान रखने की अपेक्षा की जाती है। वेबर के अनुसार, पुरोहित, महत्वपूर्ण सामाजिक व धार्मिक पद कड़े प्रशिक्षण तथा विशिष्ट सामाजिक समूह में जन्म लेने के आधार पर प्राप्त करता है। पुरोहितगिरी आचरण संबंधी संहिता तथा आदर्शोंधनियमों पर आधारित है। पुरोहित अपना जीवन दैवीय शक्ति से संप्रेषण करके समर्पित करते हैं तथा वे पूजा के स्थल तथा अनुयायियों के एक समूह से संबंधित होते हैं। 'सिद्धांत' का विकास जो कि धार्मिक धारणा तथा आदर्शों की प्रक्रिया से जुड़ा है, उनसे भी संबंधित है।

9.3.2 पुरोहित व पुरोहितगिरी : एक सर्वेक्षण (Priests and Priesthood : An Overview)

पुरोहित व संबंधित संगठन सरल व आधुनिक दोनों प्रकार के समाजों में पाए जाते हैं। प्रारम्भिक मानव द्वारा अलौकिक जगत से तालमेल स्थापित करने के लिए पुरोहित की आवश्यकता की भावना से ही पुरोहित वर्ग की उन्नति जुड़ी है।

एक सरल समाज में हम पाते हैं कि केवल पुरोहित ही नहीं वरन जादूगर भी पारलौकिक जगत से संवाद की योग्यता रखता है। यह विश्वास किया जाता है कि पुरोहितगिरी भी उतनी ही पुरानी है जितना पुराना धर्म है।

सरल तथा आधुनिक दोनों समाजों में पुरोहित तथा जादूगर ऐसे कार्यकर्ता हैं जो अपने विशिष्ट ज्ञान तथा शक्तियों के द्वारा अहितकारी तथा हितकारी दैवीय शक्तियों से संबंद्ध हैं। दोहरे गुण को इसलिए आवश्यक माना गया ताकि अपरिचित दैवीय शक्तियां मानवजाति के प्रति अहितकारी न हो सकें, इसके स्थान पर वे मानवजाति के लिए वैभव तथा सुख प्रदान करें। इन प्रारम्भिक धार्मिक तथा जादुई कार्यकर्ताओं को, जो इस प्रकार के मामलों में अपनी सेवाएं तथा मार्गदर्शन प्रदान करते रहे, संगठित पुरोहितवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। हम पाते हैं कि धार्मिक विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में पुरोहितवाद मौजूद नहीं है तथा व्यक्ति स्वयं अनुष्ठान करते हैं अथवा स्वयं ही ईश्वर से कृपा के लिए संबंध स्थापित करते हैं। ऑस्ट्रेलिया तथा मेलानेशिया (Melanesia) की जनजातियों की भांति कुछ ऐसे लोग हैं जो आज भी धार्मिक व जादुई अनुष्ठान की क्रियाएं किसी विशेषज्ञ अथवा मध्यस्थ की मदद के बिना स्वयं ही करते हैं।

बहुधा हम पाते हैं कि प्रारम्भिक अवस्थाओं में एक संकलित जनसमूह में एक व्यक्ति दैवीय शक्ति से संबंध स्थापित करने की अपनी योग्यता अथवा कुछ निश्चित घटनाओं को पूर्व घोषणा अथवा कुछ निश्चित अनुष्ठानों को करने के लिए विशिष्ट ज्ञान अर्जित करने की अपनी योग्यता के कारण निश्चित महत्व की प्राप्ति करता था। ऐसे व्यक्ति को शीघ्र ही एक मध्यस्थ के रूप में मान लिया जाता था तथा वह पुरोहित संबंधी कार्य करने लगता था। उदाहरण के लिए हम पाते हैं कि कुछ विशेष द्रविड़ जनजातियों में घर का मुखिया किसी भी पारिवारिक उत्सव व रीति-रिवाज में पुरोहित बनाया जाता है। एक नियमित पुरोहितवाद के विकास के पूर्व, हम पाते हैं कि पुरोहितों के अलावा अन्य व्यक्ति भी विशेषज्ञों वाले कार्य करते थे। इस वर्ग में निम्नलिखित भी सम्मिलित थेः

i) वे जो समाधि में लीन होकर परमानन्द को अनुभव करते तथा तत्पश्चात भविष्य संबंधी पूर्व घोषणाएं करते थे। जैसे दरवेश।

ii) वे जो उन स्थलों की देखभाल करते थे जिन्हें किसी कारणवश पवित्र स्थान माना जाने लगा था।

iii) वे लोग अथवा धार्मिक व्यक्ति जो बीमारी का उपचार अथवा अन्य चमत्कारिक कृत्यों के कारण धार्मिक पद प्राप्त कर लेते हैं।

ऊपर वर्णित कार्यकर्ताओं के अतिरिक्त, जादूगर भी लोगों के जीवन में अच्छी खासी भूमिका निभाता था। वह उन्हें लोगों के हित पहंचाने वाले कार्य करने तथा अहितकारी शक्तियों का नाष करने के कार्यो के लिए कार्य करता था। ये व्यक्ति जो अधिक धार्मिक दबदबा बना पाते थे, समय के साथ सम्मान तथा महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर लेते थे। धीरे धीरे वे विशेषज्ञों के एक वर्ग के रूप में पहचान बना पाते थे और व्यक्तियों अथवा समूहों के लिए पूजा-उपासना आदि का कार्य करते थे तथा जिनके लिए लोगों के मन में सम्मान तथा भय दोनों भावनाएं होती थीं।

9.3.3 पुरोहित तथा राजवर्ग (Priests and Royalty)

हम पाते हैं कि अधिकतर समाजों में पुरोहित वर्ग व राजवर्ग के बीच एक दिलचस्प संबंध कायम हुआ। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ राजा पुरोहित भी थे जैसे पोलिनेशिया तथा मेलानेशिया की जनजातियां तथा भारत भी जहाँ पूर्वजों की पूजा पद्धति के कारण अथवा राजा अथवा परिवार-मुखिया के लिए पुरोहित के रूप में कर्त्तव्य निभाना आवश्यक हो गया। हमें ऐसे भी अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ राजा को दैवीय शक्ति के बराबर माना गया है जिनमें अपनी जाति के जीवन अथवा मूल तत्वों को समाहित माना गया। अतः जब कभी राजा बीमार पड़ता था तो इसे पूरे समूह के लिए अशुभकारी संकेत माना जाता था। इसी कारण हम पाते हैं कि अनेक समाजों में राजा को समय से पहले ही मार कर तुरंत उसके उत्तराधिकारी का चयन कर लिया जाता था ताकि समाज टूटने से बचा रहे।

हम इतिहास में पुरोहित वर्ग तथा राजवर्ग के बीच निकट संबंध के ऐसे अनेक उदाहरण पाते हैं जहाँ दोनों एक दूसरे पर निर्भर थे। यहाँ हमारा संदर्भ अनेक समाजों में पुरोहित की उस पवित्र भूमिका से है जिसके अन्तर्गत उसके द्वारा राजा पर राज करने के अधिकार प्रदान किए जाते थे। यह यूरोप में राजा के राज्याभिशेक के संबंध में देखा जा सकता है। जिसमें चर्च की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती थी अथवा भारत में राजाओं का राज्याभिशेक जिसे ब्राह्मण पुरोहित सम्पन्न करते थे। साथ ही जहाँ पहले संदर्भ में राजा का कर्तव्य होता था कि वह राजधर्म की रक्षा करे वहीं भारत में ब्राह्मण और पुरोहित राजा द्वारा सुरक्षा पाते थे।

9.3.4 पुरोहितगिरी की योग्यताएं (Priestly Qualifications)

पुरोहित बनने के लिए निश्चित योग्यताओं का निर्धारण किया गया था, जिनके बारे में हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

i) पुरोहित का प्राथमिक कार्य मानव तथा दैवीय शक्ति के बीच मध्यस्थता करना है।

ii) पुरोहितगिरी सामान्य रूप से एक वंशगत संस्था है।

iii) पुरोहित दैवीय शक्ति के साथ प्रार्थना, पूजा, अनुष्ठानों आदि के द्वारा संप्रेषण स्थापित करते हैं।

iv) पुरोहित के पेशे में आने के लिए दीक्षा की आवश्यकता है। एक निश्चित स्वाध्याय आवश्यक माना जाता है।

v) पुरोहित अपनी स्थिति प्राकृतिक घटनाओं तथा तत्वों संबंधी ज्ञान तथा विशिष्ट रूप द्वारा बनाए रखते हैं। उनसे चमत्कारिक कृत्यों को करने की भी अपेक्षा की जाती है।

vi) रहस्य का एक निश्चित घेरा उनके चारों ओर बना रहता है।

vii) उनसे उनके व्यक्तिगत जीवन में कुछ निश्चित बंधनों का पालन करने की अपेक्षा की जाती है विशेषकर यौन संबंध, खान-पान तथा भाषा व्यवहार को लेकर ।

अंततः यह ध्यान देने योग्य है कि धार्मिक तथा जादुई कार्यकर्ता दोनों ही पुरोहित वर्ग के माने जाते हैं। जहाँ जादुई कृत्यों के करने वाले परिचित दैवीय शक्तियों को जादुई शक्तियों का प्रयोग कर अपेक्षित फल अथवा कार्य के लिए बाध्य करते हैं, वहीं पुरोहित अनजानी दैवीय शक्ति का धार्मिक अनुष्ठानों व उपासना/तप आदि द्वारा अपेक्षित फल की प्राप्ति के लिए उनका आशीर्वाद प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

भारतीय संदर्भ में पुजारी वर्ग की प्रकृति की चर्चा करते समय हम जनजाति संदर्भ में पुजारी की भूमिका को नजर अंदाज नहीं कर सकते। वहाँ वह चिकित्सक, कष्ट-निवारक, तथा ऐसे व्यक्ति के रूप में देखा जाता है जिसके पास न केवल दैवीय शक्तियां हैं वरन जादू व टोने-टोटके आदि की भी शक्तियां हैं। हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ जनजातियों द्वारा निर्मित मंदिरों में गैर-ब्राह्मण जाति के पुजारियों द्वारा सेवा-अर्चना की जाती है। जैसे मालाबार की तियान जाति में। जादू-टोना कष्ट निवारण से संबंधित होने के कारण उन्हें पुजारी की अपेक्षा चमत्कारिक जादूगर के रूप में देखा जाता है तथा 'ओझा' कह कर बुलाया जाता है। अगले भाग में हम इनके बारे में विस्तार से चर्चा करेंगे।

बोध प्रश्न 1

i) संक्षेप में वर्णन करें कि धार्मिक विशेषज्ञ कौन हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) पुजारी के बारे में वेबर के विचार को कुछ शब्दों में व्यक्त कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

9.4 ओझा (The Shaman)

पुजारी की भूमिका व कार्य का विस्तार से विश्लेषण करने के बाद अब हम 'ओझा' के बारे में एक विशेषज्ञ के रूप में जानने का प्रयास करते हैं। पिछले अनुभागों में हम निरंतर समाज द्वारा धार्मिक अनुष्ठानों से फल प्राप्ति न होने की दशा में बहुधा चमत्कारी व जादू-टोने की कृत्यों की मदद लेने की आवश्यकता अनुभव करने के बारे में बताते रहे हैं। बहुधा एक ही व्यक्ति द्वारा पुजारी तथा जादू-टोने करने वाले के रूप में कार्य किया जाता रहा है।

9.4.1 जादूगर के संबंध में वेबर के विचार (Weber on the Magician)

यदि हम धार्मिक विशेषज्ञों के बारे में वेबर के कार्य का अवलोकन करें तो हमें कहीं भी ओझा का उल्लेख नहीं मिलता, तथापि उन्होंने जादूगर (जादू टोने करने वाला) के संबंध में बात अवश्य की है। हम संक्षेप में विश्लेषण करेंगे कि वे जादूगर के बारे में क्या बताते ध्है क्योंकि ओझा की क्रियाएं मुख्यतः जादुई कारनामों पर आधारित हैं।

वेबर का विश्वास है कि मानव तथा ईश्वर के बीच का संबंध केवल पुजारी की मदद से की गई धार्मिक पुजा के द्वारा ही नहीं वरन जादुई मंत्रों तथा टोने-टोटकों द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है। वेबर इस ओर भी इशारा करते हैं कि पूजा तथा बलि का आधार भी जादू अथवा टोना-टोटका ही है। ऐसे बलि को इसके करने वाले के द्वारा ईश्वर को उसकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक प्रकार से बाध्य करने की पद्धति के रूप में देखा जाता है। इसे ईश्वर के क्रोध को किसी अन्य पदार्थ की ओर मोड़ देने की क्रिया के रूप में भी देखा जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ब्राह्मणों के बलि अनुष्ठान पूर्ण कृत्य, अपने संकल्प तथा प्रक्रिया में जादू का पुट लिये हुए थे। वेबर के अनुसार जादूगर अहितकारी दैवीय शक्तियों से व्यक्तिगत स्तर पर जूझने वाला व्यक्ति है। उसके प्रयत्न अच्छे व बुरे दोनों प्रकार का परिणाम लिये हुए हो सकते हैं। प्रायः जादूगर स्वतः यह कार्य करने वाला होता है यद्यपि वह किसी संबंधित वंश अथवा संगठित समूह का सदस्य भी हो सकता है। ज्ञान के किसी विशेष सिद्धांत के प्रयोग के स्थान पर जादूगर अपना प्रभाव व्यक्तिगत गुणों तथा पारलौकिक शक्ति के बारे में अपने ज्ञान से प्राप्त करता है। जादूगर का अपने समाज में शक्तिशाली प्रभुत्व होता है तथा उसमें आस्था की बजाए, उससे डर की वजह से वह अधिक सम्मान प्राप्त करता है। कोई आवश्यक नहीं कि पुजारी की तरह उसके भी अनुयायी अथवा शिष्य हों।

सोचिए और करिए 1

विविध स्थानों का भ्रमण करने वाले किसी जादूगर से बात कीजिए और उससे पूछिए कि अपने काम के बारे में, वह कैसा अनुभव करता है। इस बातचीत की मुख्य बातों को नोट कीजिए और अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों से इन विचारों का आदान-प्रदान कीजिए।

9.4.2 ओझा : एक सामान्य सर्वेक्षण (The Shaman : A General Overview)

हमने पहले विशेषज्ञ के रूप में जादुगर की विशिष्टताओं की रूपरेखा खींची है। जहाँ तक ओझा का संबंध है उसमें यह सभी तथा साथ में कुछ और विशिष्टताएं भी मिलती हैं। वह हितकारी तथा अहितकारी दोनों तरह के उद्देश्यों के लिए अपनी शक्तियों का प्रयोग करने में प्रशिक्षित होता है। सामान्यतः शिक्षा-पूर्व समाज में मौजूद ओझा व उसके मिलते जुलते रूप को आधुनिक समाज में भी पाया जा सकता है। उदाहरण के लिए ओझा इन कार्यों को करता पाया जा सकता है। बीमारी के निवारण के लिए जादू अथवा टोने-टोटके का प्रयोग, किसी को अपने नियंत्रण/अधिकार में अथवा प्राकृतिक शक्तियों को अपने मंतव्य के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य करना, दूसरे शब्दों में उसकी यह बहुपक्षीय भूमिका उसे समाज में उसका पद तथा सम्मान दिलाती है। अधिकतर जनजातीय समाजों में ओझा एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वास्तव में ओझावाद मूल रूप से एक जनजातीय परंपरा अथवा धर्म है।

एक समय में भय तथा गलतफहमी पैदा करने वाले ओझा को आज हम सरल समाज में अपनी योग्यताओं का सामाजिक व राजनीतिक पहलुओं में उपयोग वाला पाते हैं। लंबे समय तक, नृविज्ञान साहित्य में उसी मार्ग से हर व्यक्ति की नकारात्मक पहचान बनी रही है। तथापि बाद के वर्षों में उसकी मनोवैज्ञानिक की भूमिका के महत्व को पहचाना गया। वास्तव में फ्रांसीसी तंत्रवेता कलॉद लेवी स्ट्रास द्वारा इस ओर ध्यान दिलाया गया है कि ओझा रोगियों के लिए एक ऐसी भाषा का प्रावधान करता है जिसकी मदद से वे अपनी स्थिति को व्यक्त कर पाते हैं तथा जिसे व्यक्त करना सामान्यतः उनके लिए संभव नहीं होता।

9.4.3 ओझा के कार्य व भूमिका (The Functions and Role of a Shaman)

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, ओझावाद एक मूल जनजातीय धर्म है। शमन शब्द की उत्पत्ति उत्तर-पूर्व एशिया में हुई तथा इसका उद्भव तंगस शब्द 'समन' से हुआ जिसका अर्थ है- "उत्तेजित, प्रेरित तथा उन्नत"। हम पाते हैं कि ओझा को प्रायः चिकित्सक के रूप में देखा जाता है जो चमत्कारी शक्तियों तथा जादू-टोने की पद्धति को अपने साधन के रूप में प्रयोग करता है। वह अपनी शक्तियां दैवीय शक्ति से अपने संबंध के द्वारा प्राप्त करता है तथा ऐसा विश्वास किया जाता है कि उसके उद्देश्यों की पूर्ति में कोई माध्यम अथवा भूत-प्रेत उसकी मदद करते हैं। अधिकतर ओझा की फल प्राप्त करने की योग्यता की मांग रहती है कि उसकी मानसिक स्थिति पूरी तरह से बदल जाये तथा वह या तो अचौत्य अवस्था में चला जाता है अथवा उत्तेजना की अनियंत्रित स्थिति में जिसके परिणामस्वरूप वह पारलौकिक शक्ति से संवाद कर सकता है।

अलग-अलग जनजातियों से संबंधित ओझा अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अलग-अलग साधनों अथवा विधियों का प्रयोग करते हैं । तथापि कुछ निश्चित तत्व उनमें समान रूप से पाये जाते हैं जो कि निम्नलिखित हैं:

क) या तो उसका कार्यपद वंश के कारण उसे मिलता है अथवा उसका व्यक्तित्व उसे यह कार्य चुनने में मदद करता है।

ख) ओझा की एक विशिष्ट मानसिक स्थिति होती है अथवा उसमें कोई शारीरिक कमी भी हो सकती हैं जिसके कारण वह उन्मादीधविकृत छवि का अथवा अपस्मारिक लगता है।

ग) ऊपर वर्णित असामान्य विशेषताएं उसकी भूमिका के आधार में पाई जाती है।

घ) उसका बुजुर्ग ओझा की देख-रेख में प्रशिक्षण हो सकता है तथा वह एक विशिष्ट अजीबोगरीब व्यक्तित्व धारण कर सकता है। वह तन्मयावस्था में या अनियंत्रित उत्तेजित अवस्था में जाकर भविष्य बना सकता है, या बीमारियों का इलाज कर सकता है।

बॉक्स 9.1 बुरिटा साइबेरियन ओझा का दीक्षा समारोह

साइबेरियन ओझा के जन-सामान्य के सामने किये जाने वाले दीक्षा समारोहों में बुरिटा जाति के समारोह विशेष ध्यान आकर्षित करने वाले हैं। मुख्य रीति में एक टहनीदार पेड़ पर चढ़ाई शामिल है। एक मजबूत टहनीदार पेड़ ओझा के शामियाने में स्थापित किया जाता है जिसकी जड़े स्वर्ग में होती हैं तथा जिसका शिखर धुएँ की चिमनी से बाहर निकलता है। इस टहनीदार पेड़ को उदेसी बुरखन (Udesi burkhan) कहा जाता है जिसका अभिप्राय है-द्वार रक्षक क्योंकि यह ओझा के लिए स्वर्ग का द्वार खोलता है। यह पेड़ सदैव ओझा के शामियाने में उसके निवास स्थान की विशिष्ट पहचान बनाते हुए लगा रहा है। अभी तक सुरक्षित इस पारंपरिक समारोह के दिन प्रत्याशी पेड़ के शिखर पर हाथ में तलवार लिए हुए चढ़ता है। चिमनी से बाहर निकलते हुए धुंए से वह ईश्वर को मदद के लिए पुकारता है। तत्पश्चात शिक्षक ओझा तथा नौसिखिया तथा मौजूद समस्त जनसमूह एक सम्मिलित-यात्रा के रूप में गांव से दूर एक स्थान तक जाते हैं। जहाँ भूमि पर अनेक टहनीदार पेड़ सीधे तने हुए खड़े किये होते हैं। यात्रा समूह एक विशेष टहनी पेड़ के पास रूकता है, बकरे की बलि चढ़ाई जाती है तथा प्रत्याशी को कमर तक नंगा कर, उसके सिर, आंखों व कानों पर रक्त लगाया जाता है जबकि अन्य ओझा अपने ढोल बजाते रहते हैं। इसके पश्चात प्रत्याशी उस पेड़ पर चढ़ता है तथा उसके पीछे अन्य ओझा चढ़ते हैं। पेड़ पर अपनी चढ़ाई के दौरान वे सभी गिरते हैं अथवा परमानंदमय हो गिर जाने का नाटक करते हैं। वहाँ उस पेड़ अथवा डंडे को ऐसे पेड़ अथवा डंडे के रूप में माना जाता है जो विश्व के केंद्र में खड़ा है तथा जो ब्राह्मांड के तीन लोकों-पृथ्वी, स्वर्ग तथा नरक को एक दूसरे में जोड़ता है।

जहाँ तक ओझा के कार्यों का संबंध है यह विश्वास किया जाता है कि ओझा पुजारी, पैगम्बर तथा जादूगर तीनों का कार्य अकेले ही करता है। वह जादुई कृत्यों को करने के लिए जाना जाता है तथा बलि को दैवीय शक्ति प्राप्त करने के रास्ते पर केंद्रीय रूप में प्रयोग करता है। वह देवताओं के प्रति अनुष्ठान व बलि देने आदि की रीतियों को भी पूरा करता है।

अंततः डर तथा शक्तियों के कारण ओझा एक चमत्कारी व्यक्तित्व का पद तथा पैगम्बर जैसे गुण प्राप्त कर लेता है। वह आभूषणों को धारण करता है, लम्बे तथा उलझे हुए बाल रखता है, अपने शरीर को राख इत्यादि से रंग लेता है तथा संगीत वाद्य अथवा हड्डियों को पहने रहता है। ऐसे व्यक्तित्व तथा गुणों के कारण वह उन्मादी तथा चतुर व्यक्ति की साख अर्जित करता है।

9.4.4 संगठन (Organisation)

जहाँ तक ओझाओं के संगठन तंत्र का संबंध है यह पुजारियों के समान स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं है। तथापि समाज के अंदर उसकी व्यक्तिगत शक्तियों तथा क्षमताओं पर उसके नियंत्रण की सीमा के आधार पर उसे विशिष्ट पदवी प्राप्त होती है। उनके वर्गीकरण का एक अन्य आधार उनके द्वारा किये जाने वाले कृत्यों की दिशा है। सुकृत्य-(सफेद जादू)

जिसमें मानव के हित के लिए क्रियाएं की जाती हैं तथा बुरे कृत्य-(काला जादू) जिसमें मानव के हित के लिए क्रियाएं की जाती है। इसी गुण के आधार पर लोगों के मन में उनके प्रति डर की मात्रा निर्धारित होती है तथा उनका ऊंचा व नीचा पद भी। ओझा किसी संस्थान में विधिवत दीक्षा प्राप्त नहीं करता जैसे कि पुजारी/पादरी प्राप्त करता है तथा न ही उसके मुख्य कार्यों में उससे दक्ष होने की अपेक्षा की जाती है।

पुजारी वर्ग से भिन्न, ओझा वर्ग में महिलाओं को भी सम्मिलित किया जाता है। महिला ओझा प्रायः भूत प्रेतों से संबधित व जादू-टोने के कार्य से जुड़ी होती हैं। उन्हें ओझन के नाम से पुकारा जाता है।

ओझा को इतना महत्वपूर्ण माना जाता है कि उसका अंतिम संस्कार भी अलग व विशिष्ट प्रकार से किया जाता है। बहुधा जहाँ ओझा को दफनाया जाता है उसे एक पवित्र स्थान के रूप में निर्मित किया जाता है, जिसमें प्रवेश सीमित होता है।

मृत ओझा का शरीर कभी-कभी पंथ का प्रतीक भी बन सकता है। तिब्बत, नेपाल, अमेरिका के रेड इंडियन तथा कुछ दक्षिण एशिया क्षेत्रों की जनजातियों में ओझा की महत्वपूर्ण भूमिका पाई जाती है। भारत के संदर्भ में हम पाते हैं कि उनकी कुछ जनजातीय समूहों में महत्वपूर्ण भूमिका है। अपने अगले अनुभाग में हम इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करेंगे।

9.4.5 ओराँव ओझाः एक उदाहरण (The Oraon Shaman: An Example)

जैसा कि हमने पहले वर्णित किया है ओझा जनजाति जीवन तथा चिकित्सा के निकट रूप से जुड़ा है। यहाँ हम एक जनजाति का उदाहरण लेते हैं जहाँ ओझा अत्यंत महत्व रखता है। हम यहाँ एक द्रविड़ जनजाति ओराँव का संदर्भ ले रहे हैं जो पूर्व भारत के छोटा नागपुर भू-भाग में पाई जाती है। इस जाति में तथा अन्य जातियों में सामान्य रूप से ओझा का अध्ययन सर्वप्रथम भारतीय सामाजिक नृविज्ञानी एस.सी. राय द्वारा सन् 1929 में किया गया था। ओराँव, पहाड़ी तथा वन-प्रांतीय भाग में रहते हैं। वे कृषि का कार्य करते हैं जिनमें महिलाएं भी समान रूप से भाग लेती हैं। उनका जीवन विविध त्योहारों से रंगा है तथा उनके ग्राम-देवता के लिए वे अत्यंत पवित्र व आदर पूर्ण स्थान रखते हैं। ओराँव लोगों के जीवन में 'भगत' (ओझा) का महत्वपूर्ण स्थान है। उसके घर की अलग से पहचान होती है- उसके घर के बाहर लंगे बांस के डंडों पर रंगीन झंडे होते हैं। ये डंडे उन देवी-देवताओं का प्रतीक हैं जिनकी पूजां 'भगत' द्वारा की जाती हैं इनमें उस विशिष्ट देवता का भी झंडा शामिल होता है जो समाधि के दौरान ओझा में प्रवेश कर जाता है तथा कष्ट-निवारण व अन्य कृत्यों में उसकी मदद करता है। 'भगत' का पद वंशगत है तथा परिवार में प्रायः एक बेटे अथवा बेटी को अगली पीढ़ी में यह जिम्मेदारी सौंपी जाती है। कोई भी ओराँव तभी ओझा (भगत) बन सकता है अगर उसमें विशेष गुण पाये जाएं जिनकी मान्यता उस व्यक्ति के द्वारा की जाती है, जिसकी देख-रेख में वह शिक्षा प्राप्त करता है। भगत' का जीवन खान-पान के संबंध में संयमी व कड़ा है तथा ओझा-शिक्षा के निश्चित नियमों व संहिताओं द्वारा संचालित होता है।

ओराँव 'भगत' आवश्यक नहीं कि वंशगत परंपरा के आधार पर ही बने। वह दैवीय शक्ति द्वारा भी चुना जा सकता है जिस प्रक्रिया में दैवीय शक्ति द्वारा स्वयं अथवा काया-प्रवेश के द्वारा व्यक्ति विशेष को यह आदेश दिया जाता है कि वह किस प्रकार ओझा बनने के लिए ज्ञान व शिक्षा के मार्ग पर जायें।

भगत बहुधा उन बीमारियों का इलाज करता है जो किसी पारलौकिक शक्ति द्वारा किसी पर नियंत्रण कर लेने के कारण उत्पन्न होती हैं। अथवा वह उन बीमारियों अथवा पागलपन कष्ट-निवारण छूने अथवा झाड़ फूंक के द्वारा हो सकता है जिसे 'इहर फोक' के नाम से जाना जाता है। इन रीतियों का प्रकार व सीमा पागलपन अथवा बीमारी की सीमा पर निर्भर करते हैं। अतः 'भगत' को अच्छी व बुरी दोनों प्रकार की आत्माओं से संबंधित कार्यों को करते देखा जाता है। वह इन क्रियाओं को इलाज तथा कष्ट-निवारण के लिए करता है परन्तु इस संबंध में सफलता, विश्वास तथा पारलौकिक प्रभाव से प्राप्त होती है। 'भगत' अचैतन्य अवस्था में भी जाता है तथा परमानंद की स्थिति प्राप्त कर मरीज के दुख की जड़ तक पहुँचने का कार्य करने के लिए भी जाना जाता है। अतः कहा जा सकता है कि ओझा और उसकी निजी शक्ति का दायरा एक समाज से दूसरे समाज में अलग होता है।

यदि हम ऊपर वर्णित उदाहरण को देखें जो भले ही संक्षेप में दिया गया है, हम पाते हैं कि 'भगत' अथवा ओझा का व्यक्तित्व तथा जीवन पैगम्बर के व्यक्तित्व तथा जीवन से काफी साम्य है। ओझा की प्रकृति तथा सामाजिक जीवन में भूमिका का अध्ययन करने के बाद हम पैगम्बर की धार्मिक विशेषज्ञ के अंतिम प्रकार के रूप में प्रकृति, का अध्ययन करने के लिए बढ़ते हैं।

बोध प्रश्न 2

i) संक्षेप में जादूगर के बारे में वेबर के विचारों का वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) ओझा कौन है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9.5 पैगम्बर (The Prophet)

धार्मिक विशेषज्ञों के रूप में पुजारी व ओझा की प्रकृति का अध्ययन कर लेने के बाद जो कि विविध व महत्वपूर्ण कार्य करते हैं विशेषकर पारलौकिक जगत के संबंध में, आइये हम पैगम्बर के बारे में जाने। पैगम्बर भी एक प्रकार का धार्मिक विशेषज्ञ है पर पुजारी अथवा

जादूगर (ओझा) जैसा नहीं। उसकी मान्यता किसी धार्मिक आंदोलन के नेता (गुरू) के रूप में है न कि किसी धार्मिक आंदोलन के अंदर अपनी भूमिका निभाने वाले कार्यकर्ता के रूप में। पैगम्बर नये विश्व-धर्मों का स्रोत भी रहे हैं तथा इस्लाम व ज़ोरोस्ख अथवा किसी धार्मिक पंथ के मुखिया भी रहे हैं जैसे कि बौद्ध धर्म में। सर्वप्रथम आइये हम जानें कि पैगम्बर के बारे में वेबर के विचार क्या है।

9.5.1 पैगम्बर के बारे में वेबर के विचार (Weber on the Prophet)

धर्म पर अपनी पुस्तक में वेबर ने एक पूरा अध्याय पैगम्बर को समझने में समर्पित किया है। उनकी परिभाषा के अनुसार, पैगम्बर एक ऐसा व्यक्ति है जो अपने चमत्कारिक गुणों के कारण कोई धार्मिक सिद्धांत अथवा दैवी आदेश प्रतिस्थापित करने में समर्थ है। पुजारी और पैगम्बर के बीच सबसे बड़ा अंतर यह है कि पैगम्बर अपने कार्य को 'व्यक्तिगत स्तर पर प्राप्त ईश्वरीय आदेश' के तौर पर लेता है तथा अपना अधिकार व्यक्तिगत रहस्योद्घाटन अथवा ज्ञान-प्राप्ति तथा करिश्मा अथवा असाधारण गुणों के कारण प्राप्त करता है। पैगम्बर के कार्य का मुख्य उद्देश्य ज्ञान-प्राप्ति के रूप में प्राप्त ईश्वरीय/दैवीय ज्ञान अथवा सिद्धांत को आगे बढ़ाना है। बहुधा पैगम्बर अपने अधिकार को स्थापित करने के लिए चमत्कारों का प्रयोग करता है। पैगम्बर प्रायः तभी एक सफल तथा सम्मानित रहता है जब तक उसकी अपने उद्देश्य की विशिष्टता को सिद्ध करने तथा उसके प्रति विश्वास उत्पन्न करने की योग्यता बनी रहती है।

पैगम्बर कष्ट-निवारण तथा उपदेश/सलाह देने का कार्य भी करते हैं। वेबर इस ओर ध्यान दिलाते है कि पैगम्बर प्रायः किसी संगठन के सदस्य नहीं होते तथा न ही अपने विचारों के लिए कोई आर्थिक पुरस्कार अथवा सहायता प्राप्त करते हैं। वे कोई व्यावसायिक भी नहीं होते तथा उसके अनुयायी या आम लोग भी केवल इसलिए उसका अनुसरण करते हैं क्योंकि वे उसमें अथवा उसकी बातों में विश्वास रखते हैं। पैगम्बर इस तरह की शिक्षाए देते हैं जो बहुधा किसी धार्मिक मत अथवा पंथ अथवा एक पूरे धार्मिक आंदोलन के लिए मार्ग दर्शन का कार्य करती हैं। पैगम्बर शिक्षाएं देने के अतिरिक्त धार्मिक तथा दर्शन-ज्ञान का शिक्षक भी हैं।

सरल शब्दों में, पैगम्बर को ऐसे व्यक्ति के रूप में देखा जा सकता है जो ईश्वर की इच्छा को आगे बढ़ाने का माध्यम है तथा उसकी आज्ञा का पालन उसके कार्य की नैतिक पवित्रता के कारण किया जाता है। वह ऐसा व्यक्ति भी हो सकता है जो मोक्ष प्राप्त करने का उदाहरण प्रस्तुत करता है जैसे बुद्ध। इस प्रकार के उदाहरण आधारित करने वाले पैगम्बरवाद का रूप भारत में विशेष रूप से पाया जाता है।

9.5.2 पैगम्बर : एक सर्वेक्षण (The Prophet: An Overview)

लगभग सभी विश्व धर्मों के संदर्भ में किसी न किसी रूप में पैगम्बर का उभरना पाया जाता है। इस अनुभाग में हम संक्षेप में पैगम्बर की कुछ विशेषताओं तथा कुछ उदाहरणों का अध ययन करेंगे जिसे हमने वेबर के कार्य के रूप में मोटे तौर पर पहले ही देखा है। हम देख चुके हैं कि पैगम्बर किसी संस्था से संबंध नहीं रखता तथापि वह पूरी तरह से किसी व्यक्तिगत मिशन पर हो सकता है। अतः हम इस संबंध में संगठन की प्रकृति का विश्लेषण नहीं करेंगे। पैगम्बर प्रकृति के आधार पर अलग धर्मों व समाजों में अपने मिशन की प्रकृति के आधार पर भिन्नता लिए हुए है। इसी ने उन शिक्षाओं की प्रकृति भी निर्धारित की है, जो उन्होंने दीं। यह ध्यान देने योग्य है कि भारत की अपनी धार्मिक परंपराओं में पैगम्बर का वर्ग मौजूद नहीं है। इससे हमारा अभिप्राय यह है कि मूसा, ईसा मसीह अथवा मोहम्मद जैसे

पैगम्बर जो मानवजाति के लिए संदेश अथवा ईश्वरीय आदेश लाते हैं का विचार भारत में मौजूद नहीं है। वस्तुतः हम उन्हें भारतीय जनजातीय संदर्भ में भी नहीं पाते जैसे कि हम ओझा को पाते हैं।

तथापि हम भारत में पैगम्बर का एक अन्य वर्ग पाते है जहाँ वह अपनी भविष्य में देख सकने, दिव्य-दृष्टि का प्रयोग करने तथा समय व काल की सीमाओं से परे विचरण करने का योग्यता के आधार पर भविष्यवाणी करते हैं। हम यहां ऐसे ही एक पैगम्बर का उदाहरण ऊपर वर्णित जानकारी को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत करते हैं।

9.5.3 सत्य साईं बाबा : एक उदाहरण (Sathya Sai Baba : An Example)

सत्य साईं बाबा को आधुनिक भारत के सर्वाधिक प्रसिद्ध चमत्कार करने वाले तथा इष्ट-संत के रूप में माना जाता हैं। उन्हें अपने पहनावे व रूप के कारण आसानी से पहचाना जा सकता है। उनके भक्तों का एक बड़ा भाग भारत के उच्च जाति, मध्यम तथा अवर मध्यम वर्ग से आता है। उन्हें इष्ट के रूप में माना जा सकता है क्योंकि वह अपने भक्तों की अर्चना स्वीकार करते हैं तथा बदले में आशीर्वाद तथा समृद्धि प्रदान करते हैं। पर इससे भी बढ़ कर वह अपनी चमत्कार करने तथा सच सिद्ध होने वाली भविष्यवाणियाँ करने की योग्यता के कारण जाने जाते हैं। ऐसा विश्वास है कि केवल सत्य साईं बाबा के सच्चे अनुयायी तथा उनमें विश्वास रखने वाले ही उन्हें पहचान पाने में समर्थ हैं। उनके अनुयायियों द्वारा उन्हें अवतार अथवा पृथ्वी पर ईश्वर के ही एक प्रकाश के रूप में मानते देखा जा सकता है।

सत्य साईं बाबा को यह विशिष्ट सामाजिक पद उनके द्वारा नेतृत्व प्रदान किसी धर्म के मुखिया के रूप में नहीं वरन उनकी असाधारण योग्यताओं तथा चमत्कारिक व्यक्तित्व की सच्चाई के परिणामस्वरूप प्राप्त है। 1926 में आंध्र प्रदेश के एक गांव में उनका जन्म भी पारलौकिक घटना के रूप में देखा जाता है जिसका कारण है उस समय घटित हुई अद्‌भूत व रहस्यमयी बातें जैसे कि उनके बिस्तर के नीचे अचानक एक नाग का प्रकट होना। ऐसा माना जाता है कि वह तेरह वर्ष, की उम्र में दैवीय शक्ति के प्रभाव में आए तथा उन्होंने चमत्कार करने आरंभ कर दिये तथा बाद में अपने को 'साईं बाबा'-लोगों को बचाने वाला- तथा पूर्व संत शिरडी के साईं बाबा के अवतार के रूप में बताया।

1940 में वह अपने परिवार से अलग हो गए तथा संत के रूप में जीवन बिताना तथा भक्तों को स्वीकार करना आरंभ किया। अब तक उन्होंने राख अथवा विभूति तथा अन्य वस्तुएं उत्पन्न करना आरंभ कर दिया था। वैसे तो वह अपने चमत्कारों के कारण प्रसिद्ध हुए फिर भी वह अपनी कष्ट-निवारण तथा इलाज की योग्यता के कारण भी जाने गए। 1950 में उनके गांव के जन्म स्थान पर एक आश्रम की स्थापना की गई तथा उन्हें पूरे भारत में एक विशाल अनुयायी-समूह के साथ ईश्वरीय व्यक्ति (देव पुरुष) के रूप में जाना गया। ध्यान देने योग्य विशेष बात यह है कि उनके अनुयायी अथवा भक्त उनके साथ उनके वचनों अथवा कार्यों के कारण नहीं वरन उनके एक ईश्वरीय व्यक्ति (देव पुरुष) के रूप में अपने विश्वास के कारण थे। वह समाधि तथा दैवीय शक्ति के प्रभाव में जाकर अनुयायी के कष्ट का निवारण उस कष्ट को अपने ऊपर लेकर करने के लिए जाने जाते हैं।

उन्होंने यह भी भविष्यवाणी की है कि उनके बाद साईं बाबा का एक और अवतार होगा तथा वह अगली बार कर्नाटक में जन्म लेगा। वह अपने को शिव तथा शक्ति का अवतार बताते हैं तथा उनके पंथ का प्रतीक शिव के गिर्द घूमता है, हालांकि पंथ तथा उसकी सदस्यता स्वयं अत्यधिक संदिग्ध है। वह इस पंथ के केंद्रीय चमत्कारिक व्यक्तित्व के रूप में प्रतिष्ठित

तथा ऐसे आधुनिक पैगम्बर व गुरू हैं जो किसी सिद्धांत का प्रचार नहीं करते। संदेह नहीं कि जो उनमें विश्वास रखते हैं, उनके अनुयायी हैं तथा जो लोग उनमें विश्वास नहीं रखते वे उन्हें नहीं मानते।

बोध प्रश्न 3

i) पैगम्बर कौन हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) पुजारी तथा पैगम्बर के बीच के अंतर को स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9.6 सारांश

इस इकाई में आपने तीन विभिन्न प्रकार के धर्म-विशेषज्ञों के बारे में पढ़ा। हमने धर्म-विशेषज्ञ को समझने से आरंभ किया तथा समाज के लिए उसके कार्यों का भी अध्ययन किया।

तत्पश्चात हमने मेक्स वेबर द्वारा धर्म के समाज-विज्ञान के महत्वपूर्ण योगदान का विश्लेषण किया एवं पुजारी, जादूगर व पैगम्बर के बारे में उनके विचार को जाना।

इस इकाई में प्रत्येक विशेषज्ञ-पुजारी, ओझा तथा पैगम्बर के बारे में अलग से चर्चा की गई तथा उनकी विशेषताओं तथा कार्यों के बारे में भी जाना गया। हमने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार प्रत्येक विशेषज्ञ विशिष्ट संदर्भ में महत्व रखता है तथा किस प्रकार जनसामान्य से वह अपना संबंध स्थापित करता है। इन तीन प्रकार की भूमिकाओं का विश्लेषण करने का उद्देश्य यह दर्शाना है कि किस प्रकार प्रत्येक विशेषज्ञ पारलौकिक जगत से अपने भिन्न प्रकार से संबंध स्थापित करता है। अंततः जहां कहीं भी संभव हो सका, हमने अपने प्रस्तुतीकरण को भारतीय संदर्भ से लिये गये उदाहरणों से पुष्ट करने का प्रयास किया है। तथापि हमारा प्रस्तुतीकरण सीमित है क्योंकि विषय-क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसे कुछ पृष्ठों में समेटना कठिन है।

9.7 संदर्भ

बॉब; लारेंस ए, 1986; *रिडम्पटिव एनकाऊंटरर्स : थ्री मार्डन स्टाइल्स इन दि हिंदू ट्रेडीषनः* आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : दिल्ली

एल्विन वरियर, 1955; *दि रिलिजन ऑफ एन इंडियन ट्राइब,* आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसः दिल्ली

फुल्लर ; क्रिस्टोपर जे. 1990; *सखेंटस् ऑफ दि. गाडेस : दि प्रीस्टस आफ ए साउथ इंडियन टेंपल,* आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : दिल्ली

मदान; टी.एन. 1991; रिलिजन इन इंडिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : दिल्ली

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय पाठ्यसामग्री (2005) *समाज और धर्म* (ESO 15), नई दिल्ली, इग्नू।

9.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) धर्म-विशेषज्ञ ऐसे लोग हैं जो कुछ निश्चित विशिष्ट गुणों को संजोए होने के कारण मानव-संसार तथा पारलौकिक संसार के बीच मध्यस्थ का कार्य करने की योग्यता रखते हैं। जादूगर, ओझा आदि धर्म-विशेषज्ञों के उदाहरण है।

ii) वेबर के अनुसार, पुजारी वह है जो पारलौकिक तथा दैवीय शक्तियों की ओर निर्देशित मध्यस्थ के कार्यो को करता है। पुजारी किसी संगठन से संबंध रखता है अथवा किसी संस्थान से। वह किसी वंश से संबंधित भी हो सकता है। वह संस्थागत शिक्षा प्राप्त करता है। उसे निर्धारित आचार-संहिताओं का पालन करना होता है। उसका यह भी कार्य होता है कि वह समय-समय पर दैवीय शक्ति अथवा देवी-देवताओं की उपासना आदि, उनका अनुग्रह प्राप्त करने के लिए प्रयास करता रहे।

बोध प्रश्न 2

i) वेबर के अनुसार जादूगर ऐसा विशेषज्ञ है जो पारलौकिक संबंधी अपने ज्ञान, जादू-टोना, चमत्कार करने की कला तथा झाड़-फूंक का प्रयोग विभिन्न रीतियों तथा अनुष्ठानों को करने के लिए करता है, जिनकी प्रकृति हितकारी अथवा अहितकारी दोनों में से किसी भी प्रकार की हो सकती हैं। वह बुरी आत्माओं को नियंत्रित करता है तथा अपनी जादुई शक्तियों द्वारा बीमारी को दूर करने का प्रयास करता है।

ii) ओझा जनजाति का नेता व जादूगर होता है। वह अपनी जादू-टोना, झाड़-फूंक तथा जादूगर के समान शक्तियों के लिए जाना जाता है। वह हित पहुंचाने वाले तथा अहित पहुंचाने वाले दोनों प्रकार के अनुष्ठानों को करता है।

बोध प्रश्न 3

i) पैगम्बर ऐसा व्यक्ति है जो अपने चमत्कारिक व्यक्तित्व तथा गुणों के आधार पर नेतृत्व प्रदान करने तथा अनुयायियों को प्राप्त करने की योग्यता रखता है। पैगम्बर किसी नेतृत्वं/आर्थिक कारणों के कारण नहीं वरन दैवीय मिशन के रूप में अथवा व्यक्तिगत

प्रेरणा के आधार पर कार्य करता है। पैगम्बर किसी मिशन का नेता अथवा किसी विश्व-धर्म का संस्थापक हो सकता है। सरल शब्दों में, पैगम्बर को ईश्वरीय इच्छा के माध्यम अथवा संदेशवाहक के रूप में देखा जाता है।

ii) पुजारी तथा पैगम्बर में अंतर यह है कि पुजारी ऐसा धर्म-विशेषज्ञ है जो किसी संगठन से संबंधित है तथा दूसरों के लिए रीति व अनुष्ठानों का कार्य करता है, जबकि पैगम्बर एक स्वंतत्र व्यक्ति हैं, पैगम्बर लोगों के लिए अनुष्ठान करने जैसा कोई कार्य नहीं करता तथा वह अपने समान के किसी संगठन का सदस्य भी नहीं होता, अपितु, वह किसी धार्मिक संगठन को नेतृत्व प्रदान करने वाला अवश्य हो सकता है। दूसरे जहाँ पुजारी अपना अधिकार किसी वंश-विशेष में जन्म के कारण अथवा विशेष ज्ञान व दीक्षा

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY